॥ श्रीविश्वनाथो जयति ॥

नीति-चन्द्रिका ।

श्री स्वामी दयानन्द विरचित ।

भारतधर्म सिण्डिकेट लिमिटेडके शास्त्र प्रकाशक
विभाग द्वारा प्रकाशित ।

काशी ।

सम्वत् १९८३ विक्रमीय ।

द्वितीय वार २०००]   सन् १९२६ ई०   [मूल्य ॥) आना ।

श्रीआर्यमहिला-हितकारिणी महापरिषद् ।

भारतवर्षकी प्रतिष्ठित रानी महारानियों तथा विदुषी भद्र महिलाओंके द्वारा, श्रीभारतधर्म-महामण्डलकी निरीक्षकतामें आर्य्यमाताओंकी उन्नतिकी सदिच्छासे यह महापरिषद् श्रीकाशीपुरीमें स्थापित की गई है। इसके निम्नलिखित उद्देश्य हैं:—

(क) आर्यमहिलाओंकी उन्नतिके लिये नियमित कार्य्यव्यवस्थाका स्थापन (ख) श्रुति-स्मृति प्रतिपादित पवित्र नारी धर्मका प्रचार (ग) स्वधर्मानुकूल स्त्री शिक्षाका प्रचार (घ) पारस्परिक प्रेम स्थापित कर हिन्दुसतियोंमें एकताकी उत्पत्ति (ङ) सामाजिक कुरीतियोंका संशोधन और (च) हिन्दीकी उन्नति करना तथा (छ) इन्हीं उद्देश्योंकी पूर्त्तिके लिये अन्यान्य आवश्यकीय कार्य्य करना।

परिषद्के विशेष नियमः—१म—इसकी सब प्रकारकी सभ्याओंको इसकी मुखपत्रिका आर्य्यमहिला मुफ्त मिलेगी। २य—स्त्रियाँ ही सभ्याएँ हो सकेंगी। ३य—यदि पुरुष भी परिषद्की किसी तरहकी सहायता करें तो वे पृष्ठपोशक समझे जायँगे और उनको भी पत्रिका मुफ्त मिला करेगी। ४थे—परिषद्की चार प्रकारकी सभ्याओंके ये नियम हैंः—

(क) कमसे कम १००) एकवार देनेपर "आजीवन-सभ्या" (ख) १०००) एक ही वार वा प्रतिमास १० देने पर "संरक्षसभ्या" (ग) १२) वार्षिक देने पर सहायक सभ्या और (घ) ५) वार्षिक देने पर वा असमर्थ होनेसे ३) ही वार्षिक देनेपर "सहयोगिसभ्या" आर्यमहिलामात्र बन सकती है।

पत्रिका सम्बन्धी तथा महापरिषत्सम्बन्धी सब तरहके पत्र व्यवहार करनेका यह पता हैः—

कार्याध्यक्ष—आर्यमहिला कार्यालय

तथा

आर्यमहिला हितकारिणी महापरिषद्—कार्यालय

श्रीमहामण्डल—भवन, जगत्गंज, बनारस।

॥ श्रीविश्वनाथो जयति ॥

नीति-चन्द्रिका ।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित ।

भारतधर्म सिण्डिकेट लिमिटेडके शास्त्रप्रकाशक विभाग द्वारा प्रकाशित ।

—०:❀:०—

काशी ।

सम्वत् १९८३ विक्रमीय ।

द्वितीयवार २०००] सन् १९२६ ई० [मूल्य ॥) आना ।

गोपालचन्द्र चक्रवर्ती द्वारा
भारतधर्म प्रेस, काशीमें मुद्रित।

प्रस्तावना ।

शिक्षा ही मनुष्यत्वके विकाशका बीजमन्त्र है। शिक्षाविहीन मनुष्य-जीवन मनुष्यपद-वाच्य नहीं है। मनुष्योंमें मनुष्यत्वका जो बीज अपरिस्फुट रूपसे विद्यमान रहता है, शिक्षासुधाके सिञ्चनसे वह अङ्कुरित होकर मनुष्यको क्रमशः मानवीय जीवनके उन्नत पदपर प्रतिष्ठित कर देता है। इसीसे महर्षियोंने शिक्षाकी बड़ी महिमा गायी है; क्योंकि शिक्षा ही प्रत्येक जातिके लिये प्राणस्वरूप है।

जगत्में जितनी जातियां हैं, जातीय लक्ष्यकी विभिन्नताके अनुसार उनकी मनःप्रवृत्तियाँ भिन्न भिन्न हैं। इसीसे प्रत्येक जातिकी शिक्षाके आदर्श विभिन्न देख पड़ते हैं। जिनकी प्रवृत्ति वाणिज्यकी ओर है उनका आदर्श वाणिज्यमूलक, जिनकी प्रवृत्ति शिल्पनैपुण्यकी ओर है उनका आदर्श शिल्पमूलक और जिनकी प्रवृत्ति राजनीतिकी ओर है उनका आदर्श राजनैतिक-भाव-प्रधान रहेगा, इसमें सन्देह ही क्या है? परन्तु उक्त शिक्षाओंका धर्म्महीन भौतिक विज्ञानोन्नतिके साथ दृढ़ सम्बन्ध होनेके कारण उनके द्वारा आत्माकी उन्नति नहीं हो सकती। आर्य्यजातिका प्राण 'धर्म' है इस कारण उनकी प्रवृत्तिकी धारा सच्चिदानन्द महासागरकी ओर प्रवाहित हो रही है। अतः जिस शिक्षाके मूलमें 'धर्म' नहीं है, आर्योंके मतसे वह शिक्षा जातिके लिये कल्याणप्रद नहीं हो सकती। आर्य्यजातिकी व्यावहारिक शिक्षामें भी धर्मभाव भरा हुआ है।

कालके प्रभावसे आर्य्यजातिसे धर्मशिक्षा उठी जा रही है। धर्महीन पाश्चात्य शिक्षाके विषमय फलसे आर्यजीवन प्राचीन आर्य

आदर्शके द्वारा अनुप्राणित नहीं हो रहा है। स्कूल कालेजोंमें कोमलमति बालक जो शिक्षा पाते हैं उसमें धर्मशिक्षाका पूर्ण अभाव होनेके कारण, वे अपना जीवन आर्यादर्शके अनुसार नहीं बना सकते। वे प्रायः लक्ष्यभ्रष्ट, आचारभ्रष्ट और चरित्रभ्रष्ट होकर अपनेको तथा जातीय जीवनको यथार्थ उन्नतिके प्रशस्त पथसे बहुत दूर ले जा रहे हैं। सदाचारप्रतिपालन, मातृपितृभक्ति, सच्चरित्रता, ज्ञानार्जनस्पृहा, आस्तिकता, परार्थपरता, आध्यात्मिकता आदि आर्य्यजातिसुलभ गुण धर्महीन शिक्षाके प्रभावसे आर्यसन्तानोंके हृदयोंसे क्रमशः लुप्त हो रहे हैं। ऐसी अवस्थामें आर्यजातिको इस विपत्तिसे बचानेके लिये अति शीघ्र समस्त विद्यालयोंमें धर्मशिक्षा देनेकी व्यवस्था तथा धर्मशिक्षाके उपयोगी ग्रन्थ और उन्हें पढ़ाने योग्य अध्यापक प्रस्तुत करना परमावश्यक हो गया है।

हिन्दुजातिकी एकमात्र विराट् धर्मसभा श्रीभारतधर्ममहामण्डल इस कार्यमें दत्तचित्त हो रहा है। उसने सनातन धर्म और आर्य विद्याओंके केन्द्रस्वरूप काशीधाममें उपदेशकमहाविद्यालय खोला है, जिसमें स्कूल कालेजोंमें धर्मशिक्षा देने योग्य अध्यापक और सर्वसाधारणमें धर्मप्रचार करने योग्य उपदेशक तैयार होते हैं। इसके अतिरिक्त धर्मशिक्षाके उपयोगी कितने ही मौलिक ग्रन्थ हिन्दी, बंगला, अंग्रेजी आदि प्रान्तीय भाषाओंमें रचकर महामण्डलने प्रकाशित किये हैं, जिनके पाठसे सुलभतासे अपने धर्मके तत्त्व पाठकोंको हृदयङ्गम हो जाते हैं। स्कूल कालेजोंमें पढ़ाने योग्य भी कई छोटे बड़े ग्रन्थ महामण्डलके द्वारा विभिन्न भाषाओंमें निकले हैं और आवश्यकता तथा सुविधेके अनुसार निकलते जाते हैं। सन्तोषका विषय है कि, श्रीमहामण्डलके पुरुषार्थसे धर्मशिक्षाके साधनोंका यह गुरुतर अभाव दूर हो रहा है।

आर्यजातिका प्रथम धर्म 'सदाचार' है। सदाचार पालनके

द्वारा मनुष्य आधिभौतिक उन्नतिके साथ साथ दीर्घजीवन प्राप्त कर सुख-स्वातन्त्र्यपूर्वक अपना जीवन बिता सकता है। सदाचारकी प्रतिष्ठा होनेसे ही धर्मकी भित्ति दृढ़ होती है। सदाचार शिक्षाके उपयोगी 'आचार-चन्द्रिका' नामकी पुस्तक इससे पहिले प्रकाशित की जा चुकी है। उसको पढ़कर उसके अनुसार कार्य करनेकी क्षमता प्राप्त होनेपर नैतिक शिक्षाका प्रयोजन होता है। नीतिशिक्षाके द्वारा मनोराज्यकी उन्नति होती है। जिनका नैतिक जीवन उन्नत होता है, वे मनुष्यत्वके उच्च स्तरपर पहुँच कर देवत्वके अधिकारी होते हैं, इस प्रकारकी नीतिशिक्षाका अभाव दूर करनेके लिये यह 'नीतिचन्द्रिका' प्रकाशित का जाती है। ध्यान लगाकर इसको पढ़ने और इसमें कथित नियमोंके अनुसार अपना जीवन बनानेकी चेष्टा करनेसे विद्यार्थियोंके हृदय देवहृदयोंमें परिणत होंगे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है, यदि धर्मपरायण देशके नेता स्कूल-कालेजोंमें इस पुस्तककी पढ़ाईका विशेष रूपसे यत्न करें, तो श्रीभारतधर्ममहामण्डल अपने परिश्रमको सफल समझेगा।

इस पुस्तकका स्वत्वाधिकार, दीन-दरिद्र-दुःखियोंकी सहायताके हेतु श्रीमहामण्डल द्वारा स्थापित 'श्रीविश्वनाथअन्नपूर्णादानभण्डार' को अर्पित है।

काशीधाम
विजया दशमी
सं० १९८३ विक्रमीय

निवेदक—
गोविन्दशास्त्री दुगवेकर,
अध्यक्ष,
शास्त्रप्रकाश विभाग
भारतधर्म सिण्डिकेट लिमिटेड।

विषय सूची ।

(पूर्वार्द्ध)

नीति-चन्द्रिका ।

(पूर्वार्द्ध)

मङ्गलाचरण ।

अभेदेऽप्यहमेवास्मि त्वद्विभूतिर्न मे भवान् ।
सच्चिदानन्द ! चित्तेश ! यतो वीचिः समुद्रजा ॥
त्वं सर्वज्ञः सर्वदर्शी करुणात्मन् ! जगद्गुरो !
अल्पज्ञस्य च मे चित्ते दिव्यं ज्ञानं प्रकाशय ॥
विश्वमूर्ते ! कृपस्वैवं त्वदंशप्राणिषु प्रभो !
यथास्युः कुपथं हित्वा परानन्दार्ज्जनोन्मुखाः ॥
इदं विश्वं महादेव ! त्वत्तोऽजाव्यक्तविग्रह !
जायते लीयते चान्ते त्वय्येव जगदाश्रये ॥
तापहारिन् ! त्वदीयानां हृदयाविनयं हर ।
स्वान्तासद्वासनानाशात्कुर्वैतांश्च सदुन्मुखान् ॥
येनैते द्वेषमुत्सृज्य सङ्गता भ्रातृभावतः ।
भवेयुर्भवतोऽनन्तमहिम्नां कीर्तने रताः ॥
कृपाकटाक्षनिक्षेपपूर्वकं जगतां पितः ।
असत्कर्मविपर्यस्तान्स्वाख्यपुत्रान् समुद्धर ॥
जीवानान्तु गतिर्नित्यं निम्नगास्ति निसर्गतः ।
पतितोद्धारकस्त्वञ्च स्मारयामि ततोऽभिधाम् ॥
मोहनिद्रातमोव्याप्ते सदार्यहृदये यथा ।
ज्ञानज्योतिर्विकाशः स्याज्ज्ञानमूर्ते ! तथा कुरु ॥

नैतिक जीवनका प्रयोजन।

—:***:—

आचारोंका पालन करनेसे जिस प्रकार शरीर नीरोग होता है, दीर्घायुकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार नैतिक जीवन उन्नत और विशुद्ध होनेसे मन नीरोग होता है और उसके बलकी वृद्धि होती है। जिस व्यक्तिका नैतिक जीवन उन्नत नहीं, वह जीते हुए मरेके समान है। संसारमें, समाजमें, देशमें या अपने हृदयमें भी वह कभी मनुष्यत्वकी उच्च पदवीको पा नहीं सकता। इसी तरह जिस जातिका नैतिक जीवन उन्नत नहीं, वह जाति कभी जातीयताके उच्च शिखरपर चढ़ नहीं सकती। उसकी यदि प्राचीन प्रतिष्ठा या गौरव हो भी, तो वह उसी नैतिक अवनतिके साथ ही साथ मिट्टीमें मिल जाता है। जीवनसंग्रामकी कठिन समस्यामें नैतिक-उन्नति-हीन-जाति या व्यक्ति क्षणमात्र भी नहीं ठहर सकता। संसार नदीके भँवरमें पड़कर वह व्यक्ति या जाति विनाशके अतल जलमें डूब जाती है। अतः नैतिक जीवनकी उन्नति करना सबसे पहिले आवश्यक है। नीतिकथोका विचार करते हुए नैतिक जीवनकी उन्नतिके सम्बन्धमें अब कुछ उपाय कहे जाते हैं।

सच्चरित्रता।

—:*:—

चरित्र विशुद्ध न होनेसे मनुष्यजीवनमें किसी प्रकारकी उन्नति नहीं हो सकती। समस्त नैतिक उन्नतिका मूल चरित्रबल ही है। मनुष्य कितना ही बुद्धिमान्, शिक्षित,

उदार और कार्य्यकुशल क्यों न हो, यदि उसका चरित्र विशुद्ध नहीं, तो उसकी बुद्धि, शिक्षा, उदारता, कार्य्यकुशलता आदि सभी व्यर्थ हैं। अतः सब उन्नतिके मूलभूत चरित्रकी ओर सदा ध्यान रखना चाहिये। मनुष्यके मनकी स्वाभाविकी गति निरन्तर नीचेकी ओर होती है। उद्दाम इन्द्रियगण स्वभावतः मनुष्यको भोगकी ओर, पापकी ओर, खींचते रहनेकी चेष्टा किया करते हैं। उन्हें वशमें कर धीरे २ त्याग, संयम और परमात्माकी ओर लगा देनेसे चरित्रनाशकी आशंका मिट जाती है तथा मनुष्य सच्चरित्र होकर नैतिक जीवनकी उन्नतिकी पराकाष्ठा तक पहुंच सकता है।

बालकोंकी चरित्रशिक्षा और चरित्रगठनके विषयमें उनके बचपनसे ही पिता माताको सावधान रहना चाहिये। बालकोंके कोमल चित्तमें शैशवकालमें ही सदुपदेशोंका बीजवपन कर देना अत्यन्त आवश्यक है। कच्चे घड़ेपर चिन्ह कर देनेपर वह जिस प्रकार छूट नहीं सकता, उसी प्रकार कोमलमति बालकोंके चित्तपर बाल्यावस्थामें जमे हुए सदुपदेशोंके संस्कार आजन्म नष्ट नहीं होने पाते। अवस्थाके साथ साथ वे संस्कार खिले हुए पुष्पोंके समान चरित्ररूपी सुगन्धिसे स्वयं सुगन्धित होते हुए दश दिशाओंको भी सुगन्धित करते रहते हैं। बाल्यावस्थामें प्राप्त होनेवाली शिक्षा ही सच्ची शिक्षा कहाती है। अवस्था बढ़ जानेपर गात्र कड़े हो जानेके कारण फिर उसपर सहज संस्कार नहीं हो सकते। यौवनका उदय होनेपर ऐसे अनेक अभ्यास परिपक्व हो जाते हैं, जिन्हें छुड़ाना कष्टसाध्य हो रहता है। अतः पिता माता अपने बच्चेको जिस सांचेमें ढालना चाहते हों, उसके अनुसार बालककी शैशवावस्थामें ही उसे शिक्षा देना आरम्भ कर दें। उसके सामने वही आदर्श रख दिया जाय, जिसका प्रतिरूप उसे बनना है। जैसे, किसीकी इच्छा यह है कि, अपना बेटा वीर हो, तो उसे लड़कपनसे ही वीरताकी शिक्षा देनेका प्रबन्ध

कर दिया जाय और उसके आगे ऐसे वीर पुरुषका आदर्श रक्खा जाय, जिसको देख वह अपना चरित्र वैसा ही वीरभावसे युक्त बना सके। कोई यह चाहे कि, अपना पुत्र धार्मिक हो, तो बचपनसे उसे धर्म्मकी शिक्षा देनी चाहिये और उसके आगे धार्मिक पूर्वपुरुषोंका आदर्श रखना चाहिये। उसे ऐसे बालकोंके साथ खेलनेकी अनुमति दी जाय, जिनके पिता माता धार्मिक हों और जो अपने बच्चोंको धर्मजीवनकी आदर्श शिक्षा देते हों। सङ्गसे बढ़कर दोष नहीं और सङ्गसे बढ़कर गुण भी नहीं है। कुसङ्गके प्रभावसे मनुष्य नरकका कीट और सत्सङ्गके प्रभावसे स्वर्गका देव हो सकता है, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। व्याधके घरका तोता लोगोंको देखते ही गालियां बकने लगता और साधुके घरका तोता आगत लोगोंका प्रेमसे स्वागत करता था, यह कथा पुराणोंमें प्रसिद्ध है। इसीके अनुसार गुसाईं श्रीतुलसीदासजीने कहा है:—

"साधु-असाधु सदन-शुक-सारी, सुमिरहिं राम देहिं गनि गारी"

अतः सत्सङ्गके विषयमें बालकोंके पिता-माताको विशेष सावधान रहना चाहिये। सङ्गका अच्छा या खोटा प्रभाव बाल्यावस्थामें विशेष पड़ता है। यौवन कालमें कितने ही लोग जो दुश्चरित्र देखे जाते हैं, सो उनके बचपनके कुसङ्गका ही परिणाम मात्र है। दूसरोंका धन हरण करना, दूसरोंके बगीचोंमेंसे चोरी करके फल फूल ले आना, दूसरोंके तलावोंसे सिंघाड़े, कमल आदि चुराना, वृथा हिंसा करना, झूठ बोलना, अकारण लोगोंसे झगड़ा करना, शठता, धूर्तता, ब्रह्मचर्यनाश आदि अनेक बातें बालक कुसङ्गमें पड़कर छोटी अवस्थामें ही सीख लेते हैं। उस समय ऐसे आचरणोंके दोष गुणोंकी छानबीन करनेकी उनमें बुद्धि नहीं होती। अज्ञानवश मित्रोंकी देखा देखी उनमें उक्त प्रकारके दुर्गुण पैठ जाते हैं, परन्तु उनसे उनके भविष्यत् मधुर जीवनके मूलमें ही कुल्हाड़ी मारी

जाती है। केवल स्कूल कालेजोंमें बालकोंको भरती कर देनेसे ही पितामाताका कर्तव्य समाप्त नहीं होता। उनपर बालकोंको विद्वान् मनुष्य बनानेका कर्तव्यभार है, इस बातको सदा उन्हें स्मरण रखना चाहिये। बालक स्कूल कालेजमें जाकर कुसंगमें तो नहीं पड़ा है, कहां घूमता और खेलता है, स्कूलमें जो शिक्षा पाता है, उसमें पैतृक, जातिगत, धर्मगत, आचारगत या समाजगत कोई अवनति या अपकर्षके साधनकी आशंका तो नहीं है, इन विषयोंकी ओर मातापिताका ध्यान निरंतर बना रहना चाहिये। उक्त प्रकारके किसी दोषकी सम्भावना हो, तो उसी क्षण उसका मूल नष्ट कर देना उचित है। इस प्रकारसे सन्तानका पालन होनेपर बालक अवश्य ही सच्चरित्र होंगे और उनके पिता माता स्वदेशवासियोंके आनन्द-भाजन होकर अपने जीवनको सुखमय बनानेमें समर्थ हो सकेंगे।

अहिंसा।

भीष्म पितामहसे सम्राट् युधिष्ठिरने प्रश्न किया था कि, 'धर्मका सारतत्त्व क्या है?' इसपर भीष्मने उत्तर दिया,

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेभ्यो न समाचरेत्।'

अर्थात् दूसरोंसे जिस प्रकारका व्यवहार हम नहीं चाहते, अथवा दूसरोंके किये हुए जिन व्यवहारोंसे हमें दुःख होता है, उन व्यवहारोंको दूसरोंके प्रति हमें भी न करना चाहिये। बालक स्वभावतः कुछ हिंसाप्रिय होते हैं। तितलीको देखते ही उसे पकड़कर मार डालनेकी बालकोंको इच्छा होती है, पेड़ोंपर चढ़कर पक्षी पकड़नेकी इच्छा होती है, कुत्ता, बिल्ली, लोमड़ी आदि पशुओंपर ढेला

चलानेकी इच्छा होती है, सहपाठी और खिलाड़ियोंके साथ झगड़ा और मारपीट करनेकी इच्छा होती है, गालियां बकने और कटुवचन कहनेकी इच्छा होती है, ये ही सब हिंसाके लक्षण हैं। शरीर, वचन और मनके द्वारा किसीका अनिष्ट करनेकी चेष्टाको हिंसा कहते हैं। केवल शरीरके द्वारा किसीका कष्ट पहुंचानेसे ही हिंसा होती है यह बात नहीं, कटुवचनोंसे किसीका चित्त दुखानेसे भी हिंसा होती है। शास्त्रोंमें कहा है कि, स्थूल बाण शरीरमें चुभनेपर उसका घाव औषधिसे भर जाता है, पर वचनके तीरका घाव कभी नहीं भरता, वह सदा ताज़ा बना रहता है। निरे कटुवचनोंसे ही नहीं, किन्तु मनमें भी किसीका अनिष्ट चिन्तन करनेसे हिंसा हो जाती है। 'क्लास' में कोई बालक पढ़ रहा है, अन्य छात्रोंसे वह अधिक बुद्धिमान होनेके कारण परीक्षामें अधिक 'मार्क' पाता है, अन्य विद्यार्थी उसकी बराबरी नहीं कर सकते, तो क्या उससे द्वेष किया जाय? उसे देखकर या उसकी उन्नति देखकर क्या उससे ईर्ष्या की जाय? उसे रोग हो, वह 'फेल' हो, इस प्रकारकी मन ही मन क्या प्रार्थना की जाय? नहीं, यही तो हिंसा है। स्वयं परिश्रम कर उसके बराबरीका होना उचित होनेपर भी उससे डाह करना सर्वथा निन्दनीय है। इसी बातको सोचकर भीष्म पितामहने कहा था कि, जो हम नहीं चाहते, वह व्यवहार औरोंसे भी करना उचित नहीं है।

संसारमें हिंसाके समान पाप नहीं और अहिंसाके समान पुण्य नहीं है। हमने संसारको कष्ट देने, रक्तसे तराबोर करनेके लिये जन्म ग्रहण नहीं किया है, हम उसको सुखी करने, आनन्दमय, शोभामय हुआ देखने आये हैं। संसारको श्मशानके रूपमें देखनेकी अपेक्षा सुन्दर देखनेमें ही विशेष आनन्द है। ये जो रङ्ग बिरङ्गी तितलियां आनन्द-भरी इधर उधर उड़ रही हैं, उनको पकड़कर मार डालनेकी अपेक्षा

उनकी आनन्द भरी कलोलोंको देखकर आनन्दित होना क्या उचित नहीं है ? वृक्षकी शाखाओंपर बैठकर सुन्दर पक्षिगण विश्व-रचयिता भगवान्के गुणानुवाद मधुर कण्ठसे गा रहे हैं, उनके स्वरमें स्वर मिलाकर मुग्ध होनेके बदले उन्हें पकड़कर मार डालना क्या अच्छा है ? सरोवरोंमें नदियोंके स्रोतोंमें कितने ही रंगोंकी मनोहर मछलियाँ आनन्दसे नाच रही हैं, उनका वह आनन्द भरा नृत्य न देख, उनको लालच दिखाकर मार डालना क्या उचित है ? चित्तमें विचार करने, अन्तर्यामीसे पूछनेपर हमें यही उत्तर मिलता है कि, दुर्बलोंपर दया करना, प्रेमिकोंसे प्रेम करना, भगवान्के उत्पन्न किये जीवोंसे मित्रता करना ही मनुष्यत्व और उनके प्रति अन्याय या हिंसाचरण करना पशुत्व है। मनुष्य यदि पशुत्वको प्राप्त हो, तो उसे महापाप होता है। प्रत्येक जीवमें अंशरूपसे श्रीभगवान् विराजमान हैं। जीवको कष्ट देना भगवान्को कष्ट देनेके समान और जीवको सुखी करना भगवान्को प्रसन्न करनेके समान है। इसीसे वेदव्यास महर्षिने कहा है:—

"परोपकारः पुण्याय पापाय परपीड़नम्।"

शरीर, मन और वचन द्वारा अहिंसाका अभ्यास करनेसे उसका फल क्या होता है, इसके सम्बन्धमें महर्षि पतञ्जलिजीने योगदर्शनमें कहा है—"अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।" अहिंसाका अभ्यास करते करते जब उसमें प्रतिष्ठालाभ हो जाता है, अर्थात् शरीर, वचन और मनके द्वारा हिंसाभावका उदय ही नहीं होता, तब उस अहिंसाव्रतसे सिद्ध हुए योगीके सामने आकर हिंस्र (शिकारी) पशु भी अपनी स्वाभाविकी हिंसावृत्तिको भूल जाते हैं और योगीका कुछ भी अनिष्ट नहीं कर पाते। हमने पुराण शास्त्रोंमें पढ़ा है कि, खूँख्वार जीवोंसे भरे घने जङ्गलोंमें रहकर भी योगी निरापद होते हैं। कैलाश पर्वतके वर्णनमें लिखा है कि, वहाँ शिवके निकट, सिंह

मृग, सर्प, नकुल आदि परस्परके सहज वैरी भी अपने हिंसाभाव, भक्ष्य-भक्षक भावको भूलकर एकत्र खेलते कूदते हैं। इसका क्या रहस्य है, सो महर्षि पतञ्जलिके उक्त सूत्रसे स्पष्ट होता है। त्रिगुणमयी प्रकृतिसे सारे संसारका विस्तार होनेके कारण प्रत्येक जीवमें सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोंका न्यूनाधिक परिमाणसे अस्तित्व रहता है। संसर्ग अथवा अनुकूल शक्तिके आकर्षणसे उन गुणोंका विकाश होता है। बाघ, मनुष्य या अन्य जन्तुओंकी हिंसा करते हुए भी अपने बच्चोंको मार नहीं डालता। हिंस्र व्याघ्रके हृदयमें इस प्रकारका अपत्य-स्नेह कैसे उत्पन्न हुआ ? इसका कारण यह है कि, उसके बच्चेमें अभी हिंसावृत्तिका उदय न होने और किंचित् सत्त्वगुण रहनेके कारण स्नेहमयी सात्त्विकवृत्ति उस हिंस्रव्याघ्रमें भी उत्पन्न हो गई। कई वार ऐसा भी देखा गया है कि, मनुष्यके बच्चेको बाघ उठा ले गया है और उसने उसे न खाकर उसका प्रेमसे पालन किया है। सत्सङ्गमें रहकर हम सत् (भले) बनते हैं, इसका कारण यह है कि, सत्त्वगुण लोगोंकी सात्त्विक शक्ति हमारी सात्त्विक शक्तिको आकर्षण द्वारा प्रकट करती है और असत् सङ्गमें रहकर असत् (बुरे) इस कारण बनते हैं कि, उनकी तामसिक शक्ति अपने आकर्षणसे हमारी तामसिक शक्तिको जाग्रत करती है। शिवमय कैलाशमें शुद्ध सत्त्वगुणमयी शान्ति विराजमान होनेके कारण उस शान्तिक्षेत्रमें सब जीवोंके हृदयोंमें शान्तिशक्तिका सात्त्विक प्रभाव विस्तृत होता है। सत्त्वगुणका प्रभाव अधिक रहनेके कारण रजोगुण और तमोगुण दब जाते हैं, उनका प्रभाव वहाँ जम नहीं सकता। इसीसे सब जीव कैलाशपर हिंसा द्वेष शून्य होकर एकत्र क्रीड़ा कर सकते हैं। ऋषियोंके आश्रमोंमें भी ऐसा ही हुआ करता है। शुद्ध सत्त्वगुणसम्पन्न ऋषियोंके सम्मुख हिंस्र पशुओंके आनेपर भी ऋषियोंमें तमोगुण न रहनेसे

पशुओंकी तामसिक शक्ति आकृष्ट और प्रकट नहीं होने पाती। उलटे ऋषियोंकी उत्कट सात्त्विकशक्ति ही उन पशुओंकी सात्त्विक शक्तिको आकर्षित करती है, जिससे वे पशु भी क्षणमात्रके लिये अपने हिंस्र स्वभावको भूल जाते हैं। हमारे हृदयोंसे यदि हिंसा-भाव एक दम उठ जाय और उसके स्थानमें शुद्ध सत्त्वगुणका उदय हो, तो सिंह, व्याघ्र, सर्प आदि हिंस्र जीव हमारे पास आकर अपनी हिंसावृत्तिको भूल जायंगे, हमारे सत्त्वगुणसे अभिभूत होंगे, सत्त्वगुणके आकर्षणसे उनमें भी सत्त्वगुणका विकाश होगा और वे कभी हमसे वैर नहीं बाँध सकेंगे। महर्षि पतञ्जलिजीके उक्त सूत्रका यही तात्पर्य्य है। महर्षि मनुने भी इसी विचारसे कहा है:—

"अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते।"

अर्थात् जीवमात्रके प्रति अहिंसापरायण होनेसे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। और भी शास्त्रोंमें है:—

"अभयं सर्वभूतेभ्यो यो ददाति दयापरः।
अभयं तस्य भूतेभ्यो भवतीत्यनुशासनम्॥"

अर्थात् जो दयाशील सब प्राणियोंको अभय दिया करते हैं, उन्हें किसी जीवसे भय वा अनिष्टकी आशंका नहीं रहती।

अहिंसाके जैसे कितने ही गुण हैं, वैसे हिंसाके भी अनंत दोष हैं। मनुसंहितामें लिखा है:—

"हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते।

हिंसापरायण मनुष्य संसारमें कभी सुख नहीं पाता, इस प्रकारका उपदेश देनेका कारण यह है कि, जैसी क्रिया होती है, उसको ठीक वैसी ही प्रतिक्रिया हुआ करती है। उत्तम क्रियाकी प्रतिक्रिया भी उत्तम ही होगी। यदि हम हिंसा न करें, जीवोंके प्राणोंका नाश न करें और उन्हें अन्नदानसे 'पुष्ट बनावें' तो इस

शुभकार्यकी प्रतिक्रियासे हम भी पुष्ट होकर दीर्घजीवन लाभ कर सकेंगे। और यदि हम दूसरोंको कष्ट देंगे, उनके प्राण हरण करेंगे, तो हमारे जीवनमें भी हमें कष्ट होंगे, हम अल्पायु हो जायंगे। प्राण-दान करनेसे प्राणरक्षा होती है, प्राण नाश करनेसे अपने प्राणोंका नाश होता है। दूसरोंको सुख देनेसे हम सुखी और दुःख देनेसे दुःखी होंगे। यह तो क्रियाकी प्रतिक्रिया है। जो जीव जंतुओंको मारते हैं, मनुष्यसंहार करते हैं, वे जीवनमें कभी सुखी नहीं हो सकते। वे नाना प्रकारके रोगोंसे आक्रान्त होंगे और उनकी आयु क्षीण होकर अकालमें मृत्यु हो जायगी। इतनेसे ही उनका छुट-कारा नहीं होगा। दूसरे जन्ममें भी उन्हें अनेक कष्ट सहन करने पड़ेंगे। देवी भागवतमें लिखा है:—

यो यं हन्ति विना वैरं प्रकामं सततं पुनः।
हन्तारं हन्ति तं प्राप्य जननं जननान्तरे॥

विना शत्रुताके जो जिसकी अकारण हिंसा करता है, हत व्यक्ति जन्मान्तरमें उसका भी वध करता है।

इस प्रकार दूसरोंको मारनेसे स्वयं मरना पड़ता है। तीव्र हिंसाका प्रतिफल इस जन्ममें ही मिलता है, यह सिद्धान्त भी शास्त्र-सम्मत है। अतः प्रत्येक बालकको उचित है कि, वह हिंसारूपी पापकर्मसे मुँह मोड़कर बाल्यावस्थासे ही अहिंसापरायण बने।

सत्य।

-:※:-

महाभारतमें लिखा है—

"नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं महत्।
स्थितिर्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात्सत्यं न लोपयेत्"॥

सत्यसे बढ़कर कोई धर्म नहीं और मिथ्यासे बढ़कर कोई पाप नहीं है। सत्य ही धर्मकी स्थिति है। अतः सत्यका त्याग कदापि न करे। यदि किसीके सहस्रावधि दोष हों, किन्तु वह सत्यवादी हो, तो उसके वे सब दोष कटकर एक मात्र सत्यके बलसे उसका जीवन धर्ममय हो सकता है। यदि कोई सत्यवादी चोरी करना चाहे, तो उसकी चोरी चलेगी नहीं; क्योंकि सत्य बोलनेसे उसकी चोरी पकड़ी जाकर वह दण्डित होगा। यदि कोई व्यभिचारी हो और सत्य बोलता हो, तो उसका व्यभिचार प्रकट हो जायगा। फिर वह अपने दोषसे स्वयं लज्जित होकर ऐसे घृणित कार्यको आप ही छोड़ देगा। इसी तरह एकमात्र सत्यके आश्रयसे मनुष्य सब दोषोंसे मुक्त होकर आध्यात्मिक बलका लाभ कर सकता है। वेदमें कहा है:—

'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा'

परमात्मा तपस्या और सत्यके द्वारा प्राप्त होता है। हम यदि सत्यप्रिय हों, तो हमारा मन सदा निर्मल रहेगा, वह कभी असत् मार्गमें प्रवृत्त नहीं होगा। फिर भगवत्प्राप्ति हमारे लिये सहज हो जायगी। धर्मराज युधिष्ठिरने केवल सत्यके बलपर श्रीकृष्ण-भगवान्‌को वशमें किया था और कौरवोंका इतना अधिक बल होते हुए उन्होंने कुरुक्षेत्रके संग्राममें विजयश्रीका लाभ किया था। हमारे देशमें प्राचीन समयमें सत्यकी बड़ी प्रतिष्ठा और आदर था। सत्य-धर्मका आश्रय कर हमारे पूर्वपुरुषोंने अक्षय स्वर्ग और अपवर्गकी प्राप्ति की थी। 'कुछ भी हो जाय, हम मिथ्या नहीं बोलेंगे' इस प्रकारकी जिसकी दृढ़ प्रतिज्ञा रहती है, वह कभी बुरे कार्य करने-का साहस नहीं करेगा और यदि उससे कोई वैसा कार्य्य हो भी, तो वह निर्भयतासे उसे स्वीकार कर लेगा। उससे मनकी शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि, शीघ्र ही वह बुरे कर्मोंको छोड़कर देव-

चरित्र बन जाता है। एकमात्र सत्यप्रतिज्ञाके बलसे भीष्मदेव इच्छामृत्यु हो सके थे, यही नहीं किन्तु सत्यस्वरूप श्रीभगवान्की भी प्रतिज्ञा भङ्ग करनेमें समर्थ हो सके थे। सत्यप्रतिज्ञ हरिश्चन्द्र सत्यरक्षाके लिये अपना राज्य धन आदि दानकर स्त्री पुत्रोंको वेंच-कर, स्वयं चाण्डालके हाथ बिक जानेमें कुण्ठित नहीं हुए थे। इस महापुण्यके फलसे समस्त प्रजाके साथ वे सशरीर स्वर्गमें प्रवेश कर सके थे। सत्यप्रतिज्ञ मयूरध्वज, सत्यधर्मको निबाहनेके विचारसे, पती-पत्नी दोनोंने अपने पुत्रको आरीसे काटकर, कपट वेषी भगवान्की भीषण परीक्षामें उत्तीर्ण हुए थे। सत्यप्रतिज्ञ शिविराजाने सत्यधर्मकी रक्षाके लिये एक कबूतरकी प्राणरक्षाके लिये अपने सब अङ्ग काटकर देने और अन्तमें प्राणतक विसर्जन करनेमें अणुमात्र सङ्कोच नहीं किया था। हा! जिस देशमें सत्यका इतना आदर था, आज वहां सामान्य लौकिक स्वार्थके हेतु अजस्र मिथ्या वचनोंका प्रवाह बहाकर जिह्वा और हृदय कलंकित करनेमें हमें कुछ भी संकोच नहीं होता। देशके अधःपतनके लक्षण इससे अधिक स्पष्ट क्या हो सकते हैं? यदि भारतवासी भारत माताका मुख पुनः उज्वल करना चाहते हों, पिता पितामह आर्यमहर्षियोंकी गौरव गाथाको चिरस्थायी बनाना चाहते हों, तो कुछ भी क्षति क्यों न हो, उन्हें कभी मिथ्याका आश्रय ग्रहण नहीं करना चाहिये। यह निश्चित है कि, प्रसङ्गानुसार कभी मिथ्या वचन सुविधाजनक होनेपर भी परिणाममें उनसे हानि हुए बिना न रहेगी। सत्य कभी दुःख उत्पन्न नहीं कर सकता। अन्तमें वह सुख और सुविधा उत्पन्न करता ही है। जो सत्यवादी हैं, उनपर लोग विश्वास करते हैं, वे गुरु-जनके कृपापात्र होते हैं और व्यवहारमें भी सफल काम हो सकते हैं।

महर्षि पतञ्जलि, सत्यधर्मकी प्रतिष्ठासे क्या फल होता है सो कहते हैं—

'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।'

सत्यकी प्रतिष्ठा होनेपर तत्सम्बन्धी समस्त क्रियाएँ फलवती होती हैं। अर्थात् जो मन, वचन वा अन्य किसी प्रकारसे मिथ्या व्यवहार नहीं करते, सत्य ही बोलते हैं, उनमें ऐसी सत्यप्रतिष्ठा होनेपर वे जो कुछ बोलते हैं, वही सत्य होता है। इसका कारण यह है कि, तपस्याके द्वारा जिस अंगका संयम किया जाय, उसीकी शक्ति बढ़ती है। दिनरात मनमें वृथा चिंता करनेसे मन दुर्बल होता है और उसे दुश्चिन्ताओंसे हटाकर संयत और स्थिर करनेसे उसकी शक्ति बढ़ती है। भगवान्ने हमें आँखें दी हैं। यदि हम उन आँखोंको कुदृश्य देखनेमें ही नियोजित करते रहें, तो उनकी शक्ति घट जायगी। यदि कुदृश्य देखनेका अभ्यास न कर हम श्रीभगवान्की मूर्तियां देखा करें, पराई स्त्रीको जगदम्बाकी मूर्तिके रूपमें और मनुष्यादि जीवोंको ईश्वररूपमें देखनेका अभ्यास करें, तो हमारी आँखोंकी शक्ति न घटकर उनकी ज्योति और तेज बढ़ता जायगा तथा हमें दिव्यदृष्टि प्राप्त होगी। ऋषियोंने इसी तरह दिव्यनेत्र प्राप्त किये थे। श्रीभगवान्ने हमें बोलनेकी शक्ति दी है, उसका यदि हम अनर्गल भावसे सब दिन बकने झकनेमें उपयोग करें, तो वह शक्ति घट जायगी। उसीका यदि संयत भावसे विचार पूर्वक व्यवहार करनेको हम सीखें, तो लोगोंपर हमारे वचनोंका प्रभाव पड़ेगा, हमारी बातोंपर लोगोंका विश्वास रहेगा और हमारी वाक्‌शक्ति भी बढ़ेगी। शास्त्रोंमें लिखा है कि, पूर्वजन्ममें मौनव्रतका पालन करनेवाले दूसरे जन्ममें असाधारण वक्ता होते हैं। जो वाक्‌संयम नहीं करते, वे कभी वाग्मी नहीं हो सकते। अधिक बकवाद करनेसे प्राणशक्तिका ह्रास होकर आयु घट जाती है। जो कभी मिथ्या नहीं बोलते, जिन्होंने तपस्याके बलपर सत्यकी प्रतिष्ठा की है, उनके वचन और मनकी शक्ति ऐसी

बढ़ जाती है कि, संसारमें जो जो घटनाएँ होती हैं, वे अनायास उनके मुखसे निर्गत होती हैं और एक वाक्य भी उनका व्यर्थ नहीं होता। जिन्हें वाक्सिद्धि हो गयी है, उनके वचनसे वन्ध्या पुत्रवती होती है, रोगी नीरोग होता है और अनेक अलौकिक कार्य वे कर सकते हैं। प्राचीन कालमें वाक्सिद्धिके फलसे ही ऋषियोंके शाप अथवा वर अक्षरशः सत्य होते थे। हमारे देशके एक ऋषि-कुमारकी वाक्सिद्धिके प्रभावसे परीक्षित राजाको सात दिनोंमें तक्षकने काटा था। हमारे पूर्वजोंमें इस प्रकारकी वाक्सिद्धि विद्य-मान थी। सत्यकी प्रतिष्ठासे ही उनमें ऐसी अलौकिक शक्ति आगई थी। हम इस समय मिथ्यावादी और मिथ्याचारी बनकर सत्यकी मर्यादाको भूल बैठे हैं। हमारे वचन या प्राणोंका कोई मूल्य नहीं रहा है। इसीसे हमारी ऐसी अधोगति हो रही है। यह हमारी अधोगति दूर होकर सत्यकी प्रतिष्ठासे जातीय जीवनकी प्रतिष्ठा होनी चाहिये।

नीतिकथा प्रसंगमें सावधानता पूर्वक सत्यकथन प्रणालीके संब-न्धमें भगवान् मनुने कहा हैः—

"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियन्तु नानृतं ब्रूयात् एषधर्मः सनातनः॥

सत्य बोले, परन्तु प्रिय बोले, अप्रिय सत्य न बोले। प्रिय होनेपर भी असत्य न बोले, यही सनातन धर्म है। अन्धेको अन्धा कहना सत्य है, पर प्रियसत्य नहीं। किसी विधवा स्त्रीको पति-घातिनी कहना प्रियसत्य नहीं। किसी पुत्रविहीनको अपुत्र कहना प्रियसत्य नहीं है। इसी प्रकारका निष्ठुर अप्रिय सत्य बोलना उचित नहीं और प्रिय होनेपर भी मिथ्या बोलना उचित नहीं है। सावधानतासे, काम पड़नेपर जिससे श्रोताके हृदयमें कष्ट न हो, ऐसा सत्य बोलना उचित है। चित्तमें चुभनेवाले वचन नहीं

बोलने चाहिये। हलके चित्तके लोगोंकी तरह ठट्ठा मस्करीके बहाने झूठ बोलना भी उचित नहीं, जैसा कि, बालक बोल देते हैं और जिससे खूब हंसी होती है मनोरञ्जक मिथ्या वचनोंसे मन तरल होता है, बुद्धि क्षुद्र बनती है और झूठ बोलनेका अभ्यास क्रमशः बढ़कर पाप भी बढ़ने लगते हैं। इस विषयमें बाल्यावस्थासे ही सावधानी रखनी चाहिये।

सत्यका लक्षण करते हुए शास्त्रोंमें कहा हैः—

"सत्यं भूतहितं प्रोक्तम्।"

जिससे प्राणिमात्रका हित हो, वही सत्य है। जीवके लिये वास्तविक अनिष्टकारी और दूसरोंका वृथा अपकार करनेवाला सत्यवचन भी नहीं कहना चाहिये। जो मिथ्या न हो, जिससे किसीका अमङ्गल न हो और जो अप्रिय भी न हो, ऐसा वचन विचारपूर्वक कहना चाहिये। इससे सर्वत्र कल्याणलाभ, धर्मलाभ, सत्यप्रतिष्ठा और श्रीभगवान्की कृपाका लाभ होता है।

अस्तेय।

किसीकी इच्छा न होने पर उससे बिना पूछे उसके धनादिको हरण करना, इसीको चोरी या स्तेय कहते हैं। स्तेय-वृत्तिके अभावको अस्तेय कहते हैं। चोरीके समान नीचकार्य्य संसारमें नहीं है। केवल चौर्य्यवृत्ति उत्पन्न होनेसे मनुष्य अनेक प्रकारके पाप करने लगता है। झूठ न बोलनेसे चोरी पकड़ी जाती है, इस कारण चोरको झूठ बोलना पड़ता है। चोरी करते समय यदि कोई देखता हो, तो उसका हत्या करनेमें भी चोर संकोच नहीं करता। इसी तरह एक चोरीके पीछे कितने ही पाप मनुष्य करता है। चोरी करना सीख लेनेपर मनुष्यका मन इतना नीच हो जाता

है कि, वह कभी आध्यात्मिक मार्गमें उन्नत नहीं होने पाता और न कोई सद्वृत्ति ही उसके हृदयमें अंकुरित होती है। इसके अतिरिक्त जिस धन संग्रहके लिये चोर इतने नीच कार्य्य करता है, वह धन भी उसके पास नहीं रहता। सभी जानते हैं कि, चोर कभी बड़ा आदमी नहीं होता। उसका पापका धन प्रायश्चित्तमें ही जाता है। यह भगवान्‌का चिरस्थायी नियम है कि, अन्यायसे कमाया हुआ धन भोगके काममें नहीं आता। महर्षि पतञ्जलिजीने अस्तेय प्रतिष्ठाके फलके सम्बन्धमें कहा है—

"अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।"

अर्थात् अस्तेय वृत्तिकी प्रतिष्ठा होनेपर सब रत्नोंकी स्वतः प्राप्ति होती है। जो कभी चोरी न कर तपोबलसे अस्तेय भावको अपने हृदयमें प्रतिष्ठित करते हैं, उनके न चाहनेपर भी आप ही आप उनको सब धन रत्न प्राप्त हो जाते हैं।

यह पहिले कहा जा चुका है कि, प्रत्येक क्रियाकी प्रतिक्रिया होती है। यदि धन पाकर उसे कोई असत् कार्य्यमें लगा दे, तो दूसरे जन्ममें वह निर्धन होगा और निरन्तर उसे धनके लिये हाय हाय करनी होगी। इसी तरह यदि प्रचुर धन पाकर भी कोई उसका सदुपयोग न कर यक्षकी तरह देखता रहे, वह भी दूसरे जन्ममें धन पानेका अधिकारी नहीं हो सकता। धन पाकर जब उसने गाँठ बाँधकर रख दिया, उसका व्यय नहीं किया, तब उसको धनलाभ ऐसे ही क्या फल होगा? बुरे कामोंसे लोगोंको ठगकर चोरी आदिके द्वारा जो धन कमाया हो, असत्कर्मकी प्रतिक्रियारूपसे उसका नाश हो जाना स्वाभाविक है। वह चिरदरिद्र रहेगा। इसीसे चोर सदा भिखारी ही देख पड़ते हैं। जिसके हृदयमें अस्तेयवृत्तिकी प्रतिष्ठा हो गई हो, स्वप्नमें भी चोरी करनेकी जिसे इच्छा नहीं होती, जिसके हृदयमें स्तेय वृत्तिका लेशमात्र नहीं है, उसको

अस्तेयवृत्तिकी प्रतिक्रियाके रूपसे उसी प्रकार प्रचुर धनलाभ होता है, जिस प्रकार चोरोंका धननाश चौर्यवृत्तिकी प्रतिक्रियाके रूपसे। गृह धन रत्नादि ऐश्वर्यका लाभ अस्तेयवृत्तिशाली पुरुषको ही हो सकता है। इसीसे महर्षियोंने अस्तेयवृत्तिकी महिमा गायी है। सारांश, असदुपायसे धनादि अर्जन करना, अर्जित ऐश्वर्यका दुरुपयोग करना और कंजूसकी तरह धन बटोरना उचित नहीं है। इन्हीं तीन क्रियाओंकी प्रतिक्रियारूपसे मनुष्यको निर्धनताका दुःख भोगना पड़ता है। अस्तेयकी प्रतिष्ठा कर सन्मार्गसे प्राप्त किये धनका सत्कार्यमें व्यय करना उचित है जिससे इहलोक और परलोक दोनों लोकोंमें धन रत्नादिकी प्राप्ति होती है। जो मनुष्य ऐसा करता है, वह किसी जन्ममें निर्धन नहीं होता। धनी राजा महाराजा या सम्राट्के कुलमें ऐसे दाताओंका जन्म होता है। हम ससारमें देखते हैं कि, कोई लखपति क्रोड़पतिके घर जन्म ग्रहण करता और कोई साधारण कुलमें उत्पन्न होकर लखपति बन जाता है। ये सब पूर्वजन्मकृत धनदानरूप क्रियाओंकी ही प्रतिक्रियाएँ हैं। शास्त्रोंमें लिखा है:—

"पूर्वजन्मार्जिता विद्या पूर्वजन्मार्जितं धनम्।
पूर्वजन्मार्जितं पुण्यं अग्रे धावति धावति ॥"

पूर्वजन्ममें जो विद्यालाभ किया हो, धन या पुण्य अर्जन किया हो, वह दूसरे जन्ममें भी प्राप्त होता है। और भी लिखा है—

"उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम्।"

उपार्जित धनको सत्पात्रमें दान करना ही उसकी सुरक्षा करना है। क्योंकि सत्पात्रमें दिया हुआ दान दूसरे जन्ममें शतगुणित होकर दाताका कल्याण किया करता है। जब देखो कि, कोई दरिद्र व्यक्ति, भिक्षाके लिये सब दिन भटक कर एक मुट्ठी भी अन्न न पाकर प्राणान्तिक क्षुत्पीड़ाको सहता है, तो समझ लो, उसने पूर्व-

जन्ममें धन पाकर उसका अपव्यवहार किया था, या चौर्य आदिसे धनार्जन किया था, या सत्पात्रमें धनदान न कर अर्थपिशाच की तरह धन सञ्चय किया था। ऐसा न होता, तो उसकी ऐसी दशा न होती। दूसरोंको ठगकर या जूआ, चोरी, शठता, मिथ्यावाद आदि पापमय उपायोंसे धनार्जन करनेसे उस पापार्जित धनके द्वारा पुण्यकार्य नहीं हो सकता। क्योंकि पापके फलसे जब उसे नरक होना अवश्यम्भावी है, तब उसकी रुचि पुण्यकार्यमें क्योंकर होगी? पुण्यकार्यसे उसे नरक नहीं होगा और पुण्यकार्योंमें प्रवृत्ति तबतक नहीं होगी, जबतक उसके पापोंका क्षय नहीं होगा। इसीसे हम देखते हैं कि, पापार्जित धनका पापकार्योंमें ही व्यय होता है। 'पापीका धन कुत्ते खायँ, इस कहावतके अनुसार पापियोंका धन चोर डकैत ले जाते हैं, धूर्त लोग उसे ठग लेते हैं, या उसके वंशमें कोई ऐसा कुलाङ्गार उत्पन्न होता है, जो उस धनका पापकर्ममें दुरुपयोग कर देता है। ऐसे धनका जो व्यय करता है वह, और जिसने अर्जन किया वह, दोनों नरकमें जाते हैं। इसीसे शास्त्रोंमें अन्यायसे धनोपार्जन करना निषिद्ध कहा गया है। बालकोंको स्वप्नमें भी चोरी जैसे पातकोंका विचार न करना चाहिये। बाल्यावस्थासे ही सावधानतासे इन कुकर्मोंसे उन्हें बचाना चाहिये। चोट्टे लौंडोंकी छाया तक उन्हें न लगे ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये। चोट्टोंसे बोलना या उनके साथ खेलना छोड़ देना चाहिये। ऐसे सङ्गसे दूर रहना ही श्रेयस्कर है। क्योंकि उनके सहवास या स्पर्शसे हानि होती है। प्रायः देखा जाता है कि, कुसङ्गसे अच्छे बालक भी बिगड़ जाते हैं, उन्हें चोरीका थोड़ा थोड़ा अभ्यास हो जाता है। क्लासमें किसीकी पेन्सिल, कागज, चित्र या पुस्तक उठा लेना, दूसरोंके बगीचोंमें जाकर गिरे हुए आम उठाना या ढेले मार कर गिराना, इन बातोंकी ओर पिता माता या बालकोंके अभिभावक

बहुत कम ध्यान देते हैं, परन्तु इसी तरहका अभ्यास क्रमशः बढ़कर युवावस्थामें वे ही बालक पक्के चोर बन जाते हैं। अतः बाल्यावस्थामें ऐसे कुसंस्कार बालकमें उत्पन्न न हों, इसका पिता, माता, अभिभावक और पाठशालाके अध्यापकोंको विशेष विचार रखना चाहिये तथा इस प्रकारके ढंगका चिन्ह देखते ही बालकोंको उचित दण्ड देना चाहिये।

अक्रोध।

बालक प्रायः बड़े क्रोधी होते हैं। क्रोध क्यों उत्पन्न होता है, इसके विषयमें गीतामें श्रीभगवान्ने कहा है—

"कामात्क्रोधोऽभिजायते"

कामसे क्रोध उत्पन्न होता है। जिस वस्तुको वह चाहता हो, जो उसके मनके अनुकूल हो, सो यदि उसे न प्राप्त हो, या प्राप्त होनेपर उससे छीन ली जाय, तो उसे क्रोध आता है। क्रोधका नाश करनेके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

"क्रोधं कामविवर्जनात्"

कामका त्याग करनेसे क्रोधका नाश होता है। अर्थात् मनमें नयी नयी वस्तुओंके संग्रह करनेकी वासना ही न रहे, तो क्रोधकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकेगी। इसी कारण प्राचीन कालमें ऋषिगण, जिससे वासना न बढ़े, भोगलालसा उत्पन्न न हो, किसी वस्तुके प्रति लोभ न हो, ऐसी शिक्षा बालकोंको दिया करते और इसका अभ्यास बाल्यावस्थासे ही कराते थे। सांसारिक वस्तुओंके प्रति स्वाभाविक उपेक्षा जिससे बालकोंमें बाल्यावस्थासे उत्पन्न हो, ऐसी चेष्टा पिता माताको करना उचित है। उसके मनमें किसी वस्तुके प्रति अतिप्रीति उत्पन्न

न होनी चाहिये। वह जो कुछ पा जाय, उसीमें सन्तुष्ट रहे; जो कुछ उसे खानेको दिया जाय, वह प्रसन्नतासे खावे; दूसरोंके उत्तम खाद्य देखकर वह पानेकी इच्छा न करे; अच्छे कपड़े, अच्छी पोशाकपर उसकी दृष्टि न पड़े; ऐसी व्यवस्था करनेसे बालकमें किसी वस्तुके प्रति प्रबल लालसा उत्पन्न नहीं होगी एवं वासनाकी वृद्धि और उसकी अपूर्णतासे क्रोधकी उत्पत्तिका मूल ही नष्ट हो जायगा। बालकोंका अच्छी अच्छी वस्तुओंके प्रति लोभ न बढ़ाकर, अति आदरसे उन्हें सिर न चढ़ाकर, पिता माता थोड़ा मनोयोग कर यदि कुछ तप और संयमका अभ्यास बालकोंसे करावें, तो उनमें क्रोधादि बुरी वृत्तियोंके उदयका कारण ही नहीं रहेगा। इससे उन्हें शान्ति मिलेगी और सन्तानका भी कल्याण होगा। क्योंकि शरीर और मनमें क्रोध उदित होनेपर समस्त शरीरकी रगें उबल उठती हैं, रक्त गरम हो जाता है, श्वास वेगसे चलने लगते और फिर क्रोध रिपुकी मारसे बालक शान्तिको खो बैठते हैं। इस प्रकारकी अशान्तिसे शरीर रुग्ण, दुर्बल और कृश होकर मन बिगड़ जाता है तथा श्वासोंके क्षयसे आयु घट जाती है। अतः जिससे क्रोधका उदय न हो, ऐसा विशेषरूपसे यत्न करना चाहिये।

दूसरोंके कटुवचनोंसे या उनके दुर्व्यवहारोंसे जो क्रोधका उदय होता है, संसारपर प्रेम करना सीखनेसे वह नहीं हो सकेगा। यदि हम भाई, बहिन, सहपाठी, पड़ोसी आदिपर प्रेम करते हों, तो उनके कटुवचन आनन्दसे सुन सकेंगे। उनके बुरे बरतावोंको स्नेहकी परीक्षाके रूपसे ग्रहण करना सीखेंगे। इस प्रकारका उदार और मधुर भाव बाल्यावस्थासे ही हृदयमें जम जानेपर क्रोधोत्पत्तिकी आशङ्का समूल नष्ट हो जायगी। इस संसारमें हम दो दिनोंके लिये आये हैं और साथी दो दिनोंके सभी हैं। जिस प्रकार नदीमें पड़ी हुई दो लकड़ियाँ संयोगवश कभी एकत्र हो जाती हैं और फिर

तरङ्गोंकी ठोकरोंसे पृथक् होकर कौन कहाँ चली जाती है इसका पता नहीं रहता, इसी तरह हमारा संसारमें आना और भाई, बहिन, कुटुम्बी, मित्र, परिजन आदिसे मिलना बहुत दिनोंके लिये नहीं होता। अतः यह मिलन आनन्दमय हो, ऐसा उपाय करना चाहिये। मनुष्य क्रोधकर अपना और दूसरोंका कितना ही अनिष्ट करता है। बन्धु-विच्छेद, कलह, हत्या आदि सभी पाप क्रोधके वशीभूत होकर किये जाते हैं। बिजलीकी चमककी तरह थोड़े क्षणोंके लिये इस संसारमें उजाला फैलानेके लिये आकर हमें अशान्ति और कलहकी मेघमालाका विस्तार नहीं करना चाहिये। जिससे प्रेम, आनन्द और शान्तिके साथ दिन कट जायं, ऐसी प्राणपनसे चेष्टा करनी चाहिये और अक्रोधकी प्रतिष्ठा कर विश्वप्रेमका लाभ करना चाहिये।

निर्लोभता।

—:※:—

लोभसे ही सब प्रकारके दोष उत्पन्न होते हैं। शास्त्रोंमें लिखा है:—

"लोभात्क्रोधः प्रभवति लोभात् कामः प्रजायते।
लोभान्मोहश्च नाशश्च लोभः पापस्य कारणम्॥"

लोभसे क्रोध, काम, मोह आदि उत्पन्न होकर नाश कराता है। पापका कारण एक मात्र लोभ है। लोभसे सब प्रकारके पाप उत्पन्न होते हैं। दृष्टान्त रूपसे समझा जा सकता है कि, किसीका किसी वस्तुपर लोभ होनेपर वह उस वस्तुको घरमें हो तो पिता माताके निकट मांगेगा। वे यदि किसी कारणसे न दें, तो उसमें क्रोधरिपुका उदय होगा। क्योंकि किसी वस्तुपर अत्यन्त आसक्ति

होनेसे उसे पानेकी इच्छा होती है और वह प्राप्त न होनेसे उसमें चित्त मुग्ध होकर मोहवृत्तिका उदय होता है। वही वस्तु यदि दूसरेकी हो. तो उसको चुरा लानेको मन करता है। चोरी पकड़ी जायगी इस डरसे झूठ बोलना पड़ता है। झूठ छिपानेके लिये नाना भांतिकी ठगविद्या, शठता, छल-कपट आदि करना पड़ता है और यह सब रहस्य यदि प्रकट हो जाय, तो सर्वसाधारणमें अपमान होगा ही, किन्तु एकमात्र लोभके वशीभूत होनेसे परलोकमें भी पापका फल भोग करना पड़ेगा। इससे देखा गया कि, लोभादि रिपु किस प्रकारसे मनुष्यको नरकका कीड़ा बना देते हैं। अतः सर्वदा सावधानतासे लोभके आक्रमणसे अपनी रक्षा करनी चाहिये। बालकोंमें स्वभावतः लोभका बीज होता है। इसका नैसर्गिक कारण यह है कि, बाल्यकाल वृद्धिका समय है। प्रकृति विविध खानेयोग्य पादार्थों द्वारा बालकके अङ्गों-प्रत्यङ्गोंको परिपुष्ट करती हुई उसे जीवन-संग्रामके योग्य बनाती हैं। इस कारण भीतरसे ही अंग-प्रत्यङ्गोंके पोषणके लिये बालककी प्रकृतिमें एक प्रकारकी नैसर्गिक आकांक्षा विद्यमान रहती है। इस प्राकृतिक प्रेरणाके कारण ही बालकोंकी भोजनमें विशेष रुचि होती है। वे जो पाते हैं, वही मुंहमें डालते हैं। रुचिवृद्धिसे ही लोभका उदय होता है। किन्तु प्रकृतिके अभावको पूर्ण करना और बात है तथा खाद्य द्रव्योंमें लोभ करना और बात है। जिसका अभाव हो, उसे पूर्ण करना उचित होनेपर भी लोभ करना उचित नहीं है।

लोभ कैसे दूर हो सकता है, इसके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें लिखा है:—

"अर्थानर्थेक्षया लोभम्।"

इष्ट और अनिष्टका विचार हृदयमें जाग्रत होनेसे लोभ दूर हो सकता है। किसी वस्तुपर लोभ करनेसे अनेक प्रकारके पाप

उत्पन्न होते हैं, यह पहिले कहा जा चुका है। लोभरिपुसे उत्पन्न होने वाले इन दोषोंके सम्बन्धमें निरन्तर विचार करना उचित है और इससे कितने प्रकारके अनिष्ट उत्पन्न होकर वे मनुष्यकी अधोगति करते हैं, इसको भी चिन्ता करनो चाहिये। शरीरके अभावको पूर्तिके लिये साधारण खाद्य सहजमें संग्रह करनेसे किसी प्रकारकी शारीरिक हानि नहीं होती, उलटे ऐसा खाद्य शीघ्र पचकर शरीरको नीरोग रखता है, इस बातको भी सोचते रहना चाहिये। शास्त्रमें लिखा है:—

"स्वच्छन्दवनजातेन शाकेनापि प्रपूर्य्यते।
अस्य दग्धोदरस्यार्थे कः कुर्यात्पातकं महत्॥"

स्वाभाविकरूपसे वनमें उत्पन्न हुए मांसरहित शाक पातसे ही जिसकी तृप्ति होती है-शारीरिक अभावोंकी पूर्ति होती है, उस दग्ध उदरके लिये जीवहत्या लोभ आदि पातकोंके करनेका क्या प्रयोजन है? हम दो दिनोंके लिये संसारमें आकर जीव-जन्तुओंको आनन्दित करनो छोड़ उनका संहार करें, इस आनन्दके घर संसारको दुःखके अंधकारमें डुवादें, लोभके वशीभूत होकर शीघ्र न पचनेवाले तामसिक द्रव्योंका सेवन कर अपने शरीर और मनको रोगी वनादें, यह विचारवान पुरुषके लिये कदापि उचित नहीं है। लोभपूर्वक किसी वस्तुको खानेसे विना अधिक खाये रसनाकी तृप्ति नहीं होती। इसीसे लोभी लोग अपनी परिपाकशक्तिसे अधिक खाकर प्रायः रोगी होते हैं।

पहिले कही बातोंके सिवा लोभत्यागके और भी दो उपाय शास्त्रोंमें वर्णित हैं। एक तो यह कि, मनुष्य प्रसादबुद्धिसे भोजन करे, भोज्य द्रव्य सामने आते ही पहिले इष्ट देवताको भोग लगावे, मनमें सोचे कि, उन्होंने ग्रहणकर हमें प्रसादरूपसे यह दिया है। इस तरह अन्न ग्रहणके समय प्रसादबुद्धि उत्पन्न होनेसे भोगबुद्धि

कम होती है और साथ ही लोभ भी घटने लगता है। लोभत्यागका दूसरा उपाय है, बीच बीचमें उपवास करना। प्रिय वस्तुका सेवन बीच बीचमें छोड़ देनेका अभ्यास करने या उस वस्तुका त्याग अथवा दान करनेसे उसपर जो आसक्ति होती है, वह बढ़ने नहीं पाती। क्योंकि संसारकी प्रत्येक सुन्दर वस्तुके अधिक संसर्गसे ही कामनाएँ बढ़ने लगती हैं। इसीसे बीच बीचमें, उपवास करने चाहिये। गीतामें कहा है:—

"विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।"

आहार न करनेसे विषयवासनाएं घट जाती हैं। यदि उपवास न किया जा सके, तो जो वस्तु अत्यधिक प्रिय है, उसीको दृढ़ मनोनिग्रहसे बीच बीचमें छोड़ देना चाहिये। ऐसे त्यागका अभ्यास तीव्रतासे होनेपर मनका बल बढ़ता है, संसर्गदोष कम होने लगता है और धीरे धीरे त्याग सहजसाध्य हो जाता है। मन तो अभ्यासका दास है। किसी वैषयिक पदार्थका अभ्यास करते करते मनपर उसका प्रभाव जम जाता है, जिससे मन दुर्बल होता है। इसीसे दुर्बल चित्तवाले मनुष्य अभ्यस्त वस्तुका शीघ्र त्याग नहीं कर सकते। दृढ़ होकर एक दो बार त्याग करनेसे मनमें बलका सञ्चय होता है। फिर त्याग करना उतना कठिन नहीं प्रतीत होता। एकमात्र त्यागशक्तिके बलसे मनका दासत्व जितना कट जायगा, उतनी ही सबल मनमें संयमजनित आनन्दकी वृद्धि होगी। अभ्याससे मनुष्य देवता भी बनता है और अनभ्याससे दुर्बलचित्त तथा असंयमी होकर वह अपने जीवनको भारभूत भी कर सकता है। अतः हितकर क्या है और अहितकर क्या है, इसका विचार करके, भोजनके पदार्थोंमें प्रसादबुद्धिके उदय और उपवासके अनुष्ठानसे लोभरिपुको वशीभूत करना चाहिये। जिस प्रकार अस्तेयकी प्रतिष्ठासे सब रत्नोंकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार निर्लोभताकी

प्रतिष्ठासे भी भोज्यद्रव्यकी प्रचुर प्राप्ति होती है। ऐसे व्यक्तिको संसारमें किसी वस्तुका अभाव नहीं रहता। क्योंकि हृदयमें जबतक अभावका अज्ञान रहता है, तभी तक अभावका अस्तित्व है। निर्लोभतासे अभावज्ञान नष्ट होता है। लोभहीन व्यक्तिको किसी प्रकारका अभाव नहीं रहता। उन्हें भोजन कराकर लोक तृप्त होते हैं। वे भोज्य द्रव्यके साथ संतोषरूपी अमृतका पान कर चिरअमर हो जाते हैं।

दया।

दूसरोंके दुःख देखकर कातर होनेको दया कहते हैं। मनुष्यमें भगवान्‌का अंश विद्यमान होनेके कारण भगवान्‌के अनेक सद्गुणोंका बीज भी मनुष्यमें देख पड़ता है। सब सद्गुणोंमें दयाका स्थान सबसे ऊँचा है। यह वृत्ति मानवीय नहीं, किन्तु दैवी है। हम करुणामय भगवान्‌में ही स्वाभाविक करुणा देखते हैं। हमें उत्पन्न करनेके पहिले ही वे माताके स्तनोंमें दूध भर देते हैं। हमारी असहाय शैशवावस्थामें पालनसम्बन्धी कोई असुविधा न हो, इस विचारसे वे माताके अन्तःकरणमें प्रेम उत्पन्न करते हैं। हमारे बड़े होनेपर हम विद्वान् हों और मनुष्यत्व प्राप्त करें, इसलिये वे पिताके अन्तःकरणमें स्नेह भर देते हैं। उनकी करुणाका प्रवाह पवनरूपसे प्रवाहित होकर हमारे प्राणोंकी रक्षा करता है। उनकी करुणाका अमृत प्रत्येक रात्रिमें चन्द्रमासे चूकर हमारी उदरतृप्तिके लिये अनन्त औषधियोंको परिपुष्ट करता है। उनकी करुणाके किरण सूर्यकिरणके रूपमें अजस्र धाराओंसे विकीर्ण होकर जगत् यन्त्रमें सञ्चालिनी शक्ति प्रदान करते हैं। उनकी करुणाकी धाराएं वर्षा-

कालीन मेघोंकी धाराओंके रूपमें वर्षित होकर शस्यसमृद्धिकी वृद्धि करती और नदियोंके रूपमें अनन्त प्रवाहोंका विस्तार कर जगत्में जीवन प्रदान करती हैं। हमने भगवान्को क्या दे रक्खा है, जिसके बदले वे हमपर इतनी दया करते हैं? हम तो भूलकर भी उनका कभी स्मरण नहीं करते। फिर भी उनकी इतनी दया क्यों है? दया करना उनका स्वभाव है, इसीसे जीवमात्रपर वे दया किया करते हैं। भक्तोंने इसी कारण उन्हें 'अहेतुक दयासिन्धु' कहा है। हम अपने हृदयमें इस दयाभावको जितना अधिक जाग्रत करेंगे, भगवान् उतने ही हमारे हृदयमें जाग्रत होंगे। हम दुःखी, दरिद्र, असहायोंके प्रति जितनी दया करना सीखेंगे, भगवान् उतनी ही हमपर अधिक दया कर हमारे सब अभाव और दुःख मिटा देंगे। यही कारण है कि, जो दूसरोंपर दया करते हैं, दूसरोंपर उपकार करते हैं, वे संसारमें कभी कष्ट नहीं पाते। उनका हृदय-कमल शत-दल पद्मोंकी तरह खिला रहता है। उसके सुगन्धसे चारों दिशायें आमोदित होती हैं और ईश्वरका दयागुण हृदयमें धारणकर वे भी ईश्वरतुल्य हो जाते हैं। उनमें अनुदार, स्वार्थमूलक कोई नीच भाव नहीं रहता। उनके हृदयमें प्रवाहवती करुणारूपी गङ्गा धीरे धीरे बढ़ती हुई अन्तमें अनन्त करुणामय करुणासिन्धु भगवान्में जा मिलती है और वे जीवभावसे मुक्त होकर शिवभावको प्राप्त होते हैं।

जो निरन्तर दूसरोंके मंगलकी चिन्ता करते हैं, दूसरोंको अपना समझनेका अभ्यास करते हैं, दूसरोंके दुःखोंसे दुःखी और सुखसे सुखी होते हैं, उनकी अपने सुखकी स्पृहा आप ही नष्ट हो जाती है, इन्द्रियोंके भोग विलास और उन्हें तृप्त करनेकी लालसा समूल उन्मूलित होती है तथा इस प्रकारसे वे अनायास संयम और जितेन्द्रियताको लाभ कर सकते हैं। इसी तरह दूसरोंके अन्तरङ्गोंके साथ अपना अन्तरङ्ग मिलाना सीखनेसे अपने प्राण परिपुष्ट होकर वे

विश्वप्राणके साथ मिल जायंगे। फिर हमें क्षुद्र सुखकी इच्छा ही नहीं रहेगी और सबका सुख देखकर निर्मल पवित्र आनन्द प्राप्त होगा। संसारमें परोपकारके द्वारा जैसा निर्मल आनन्द प्राप्त होता है, वैसा और किसीसे नहीं होता। दया, दाता और ग्रहीता दोनोंको पवित्र करती है, निर्मल करती है, आनन्दित करती है। दयावान्को अपने खानेकी अपेक्षा दूसरोंके खिलानेमें अधिक आनन्द आता है, अपने लिये सञ्चय करनेकी अपेक्षा दूसरोंको दान करनेमें वे अधिक आनन्दित होते हैं, अपने सुखकी अपेक्षा उन्हें दूसरोंको सुखी करनेमें अधिक आनन्द होता है। यही यथार्थ देवभाव है। यदि जगत्में देवत्वलाभ करना हो, तो इस दयारूपिणी दिव्य-वृत्तिकी शरणमें अवश्य ही जाना चाहिये। इसीसे हिन्दुशास्त्रोंमें दयाकी इतनी महिमा गायी है। दूसरोंका दुःख देखकर जिनका हृदय नहीं पसीजता, उनका हृदय पाषाणसे भिन्न नहीं है। ऐसे व्यक्ति मनुष्य नहीं, दयामय भगवान्के पुत्र नहीं, उनके आदरकी वस्तु नहीं, वे केवल नर-रक्त-लोलुप हिंस्र व्याघ्रके समान हैं। ये जो भिखारी सूखे कण्ठसे द्वार द्वार करुणा भिक्षाकी याचना करते फिरते हैं, उन्हें यदि हम कुछ दान न कर सकें तो संसारमें हमारे जीवनका कोई मूल्य नहीं है। हमें निश्चयसे जान लेना चाहिये कि, जिसे शक्ति है, उसे दुर्बलोंके प्रति दयावान् होनेका कर्त्तव्य भी उचित है। हमें भगवान्ने शक्ति क्यों दी है, धन क्यों दिया है? सदुपयोगके लिये। सदुपयोगसे हमारी शक्ति बढ़ेगी, घटेगी नहीं और धन भी सहस्रगुण बढ़ेगा। दाता कभी दरिद्र नहीं होता। ऐसा न होता तो विश्वके प्राणदाता, अन्नदाता, दयामय भगवान्के हृदयमें लक्ष्मीदेवी-का निवास न होता। वे लक्ष्मीहीन हो जाते। हम दधीचि ऋषिके देशके लोग हैं, जो देवताओंपर दया करनेके विचारसे अपनी अस्थियां भी देनेमें कुण्ठित नहीं हुए थे। हम शिबि राजाके देशके

लोग हैं, जो एक शरणागत कपोतकी प्राणरक्षाके निमित्त अपने शरीरके मांसके टुकड़े टुकड़े कर प्रदान करनेमें अणुमात्र सङ्कुचित नहीं हुए थे। हमें अपने पिता पितामह पुण्यश्लोक महर्षियोंके व्रतमें अनुप्राणित होना उचित है। जीवके प्रति शरीरके द्वारा सब समय हम भले ही न कर सकें, परन्तु अन्तःकरण द्वारा दया करनेमें हमें कभी कुण्ठित नहीं होना चाहिये। दूसरोंका दुःख देखकर कातर हो यदि हमारी आंखोंसे आंसुओंकी दो बूंदें टपक न पड़ें, तो हम बड़े ही निर्दय समझे जायँगे और फिर श्रीभगवान्‌के दयापात्र न हो सकेंगे। अतः यदि हमें करुणामय भगवान्‌की दयाके प्रियपात्र बनना हो उनकी अजस्र करुणाके अधिकारी बनना हो, तो कृपणता छोड़कर दयावृत्तिको जगाना, हमारा सबसे पहिला कर्तव्य होना चाहिये।

नैतिक उपदेशावली।

——:०%०:——

छात्र जीवनके लिये उपकारी और अभिज्ञता सम्पादनके योग्य कुछ नैतिक उपदेश अनेक शास्त्रोंसे संगृहीत कर नीचे उद्धृत किये जाते हैं। ये उपदेश बालकोंको अर्थ सहित कण्ठस्थ करा देने चाहिये।

ऊर्द्ध्वबाहुर्विरौम्येतन्न हि कश्चिच्छृणोति मे
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

वेदव्यास कहते हैं—मैं हाथ उठाकर चिल्ला रहा हूं, परन्तु हाय! कोई नहीं सुनता कि, धर्मसे ही अर्थ तथा कामकी प्राप्ति होती है, फिर लोग धर्म सेवा क्यों नहीं करते? इस महावाक्यका

तात्पर्य्य यह है कि, एकमात्र धर्मसेवा करनेसे मानवोंका सब अभीष्ट सिद्ध होता है।

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीड़नम्॥

अठारह पुराणोंमें व्यासदेवने मुख्य दो बातें कही हैं। परोपकार सबसे श्रेष्ठ पुण्य और परपीड़न सबसे निकृष्ट पातक है।

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
इत्युक्तं हि समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥

सुख और दुःखका संक्षेपसे मनु भगवान्‌ने यह लक्षण किया है कि, पराधीनतासे बढ़कर कोई दुःख नहीं और स्वाधीनता ही सब सुखोंका मूल है।

इज्याचारदयाहिंसा दानं स्वाध्यायकर्म च।
अयन्तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्॥

यज्ञ—याग, सदाचार, इन्द्रियदमन, अहिंसा, दान एवं स्वाध्याय ये सभी धर्म हैं, परन्तु योगके द्वारा ईश्वरसाक्षात्कार कर लेना सर्वोत्कृष्ट धर्म है।

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः।
किन्नु मे पशुभिस्तुल्यं किन्नु सत्पुरुषैरिति॥

अपने चरित्रका अनुसन्धान कर प्रत्येक दिन देखना चाहिये कि, हमारेमें पशुभाव कितना है और साधुभाव कितना है। अर्थात् प्रतिदिन साधकको विचार करना उचित है कि, आज मैंने कितनी असद्वृत्तियोंका त्याग किया और कितनी सद्वृत्तियोंका ग्रहण किया।

अनुगन्तुं सतां वर्त्म कृत्स्नं यदि न शक्यते।
स्वल्पमप्यनुगन्तव्यं मार्गस्थो नावसीदति॥

महत्पुरुष जिस मार्गसे गये हैं, उस मार्गका पूर्णतया

अवलम्बन करनेकी शक्ति न होनेपर भी जितना हो सके उतना ही करना चाहिये। क्योंकि, उस पथसे चलने पर कभी क्षतिग्रस्त नहीं होना पड़ता।

गतेऽपि वयसि ग्राह्या विद्या सर्वात्मना बुधैः ।
यद्यपि स्यान्न फलदा सुलभा सान्यजन्मनि ॥

वयस अधिक बीत जाने पर भी विचारवान् व्यक्तिको विद्यासे विरत न होना चाहिये। क्योंकि इस जन्ममें उस विद्याका कोई फल न होने पर भी जन्मान्तरमें उससे शीघ्र विद्यालाभ हो सकेगा।

चीन्तनीया हि विपदामादावेव प्रतिक्रियाः ।
न कूपखननं युक्तं प्रदीप्ते वह्निना गृहे ॥

विपत्ति आनेके पहिलेसेही उसकी प्रतिक्रिया सोच लेनी चाहिये। घरमें आग लग जानेके पश्चात् कुआं खोदनेका उद्योग करना उचित नहीं है।

धनमस्तीति वाणिज्यं किञ्चिदस्तीति कर्षणम् ।
सेवा न किञ्चिदस्तीति भिक्षा नैव च नैव च ॥

वाणिज्यसे यथेष्ट धन प्राप्त होता है, खेतीमें भी कुछ लाभ हो जाता है, सेवा (चाकरी) करनेसे बहुत ही थोड़ा मिलता है, किन्तु भीख मागनेसे तो कुछ नहीं मिलता।

धर्मशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।
व्यसनेन तु मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा ॥

बुद्धिमान् पुरुष धर्म और शास्त्रचिन्ता कर आनन्दसे समय बिताते हैं, किन्तु मूर्खलोग दुर्व्यसन, निद्रा और कलहमें अपना समय नष्ट कर देते हैं।

अवृत्तिकं त्यजेद्देशं वृत्तिं सोपद्रवां त्यजेत् ।
त्यजेन्मायाविनं मित्रं धनं प्राणहरं त्यजेत् ॥

जिस देशमें उपजीविकाका प्रबन्ध न हो, उस देशको त्याग देना चाहिये जिस वृत्ति (व्यवसाय) में अनेक उपद्रव (विघ्न बाधाएं या झंझटें) हों, उस वृत्तिका त्याग करना चाहिये, मायावी मित्रका त्याग करे और जिस धनसे प्राणनाशकी आशङ्का हो, उस धनकी भी आशा छोड़ देनी चाहिये।

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत्॥

पदनिक्षेपके पहिले दृष्टिसे देख लेना चाहिये कि पैर रखनेका स्थान कण्टकादिशून्य है या नहीं, पानी सदा छानकर पीना चाहिये, वचन सत्यसे शुद्धकर बोलना चाहिये और जिससे मनमें अपवित्रताका भाव न हो, ऐसे कार्य करने चाहिये।

उपकारः परो धर्मः परार्थं कर्मनैपुणम्।
पात्रे दानं परः कामः परो मोक्षो वितृष्णता॥

उपकार करना ही परम धर्म है, दूसरोंके लिये कर्म करते रहना ही कार्यकौशल है, सत्पात्रमें दान करना परम वाञ्छनीय वस्तु है और तृष्णारहित होना ही मोक्ष है।

न हीदृशं संवननं त्रिषु लोकेषु विद्यते।
दया मैत्री च भूतेषु दानञ्च मधुरा च वाक्॥

सकल जीवोंके प्रति दया, सबसे मित्रता, दान और मधुर वाणी इनसे जैसे लोग वश होते हैं. वैसे और किसीसे नहीं हो सकते।

उत्तमा चात्मना ख्याताः पितुः ख्याताश्च मध्यमाः।
अधमा मातुलात्ख्याताः श्वशुराच्चाधमाधमाः॥

जो अपनी शक्तिसे यशोलाभ करते हैं, वे उत्तम; जो पिताके नामपर विख्यात होते हैं, वे मध्यम; जो मामाके नामसे प्रसिद्ध होते हैं, वे अधम और जो श्वशुरके आधारपर यशस्वी होते हैं, वे अधमाधम हैं।

ऋणशेषश्चाग्निशेषः शत्रुशेषस्तथैव च।
पुनः पुनः प्रवर्तन्ते तस्माच्छेषं न रक्षयेत् ॥

ऋणका शेष, अग्निका शेष और शत्रुका शेष रह जानेसे वह पुनः बढ़ने लगता है; अतः इनका शेष कभी न रक्खे।

व्याकुलोऽपि विपत्पातैः स्मरेद्विष्णुं सदा हृदि।
शरतल्पगतो भीष्मः सस्मार गरुड़ध्वजम् ॥

विपत्तियोंमें पड़कर व्याकुल होनेपर भी सदा हृदयमें विष्णुका स्मरण करना चाहिये। शरशय्यापर पड़े हुए भीष्मपितामहने भी गरुड़ध्वज भगवान्‌का ही स्मरण किया था।

जीवन्तोऽपि मृताः पञ्च व्यासेन परिकीर्तिताः
दरिद्रो व्याधितो मूर्खः प्रवासी नित्यसेवकः ॥

दरिद्र, रोगी, मूर्ख, प्रवासी और दूसरोंका दास इन पाँचोंको व्यासदेवने जीवित अवस्थामें मृतक समान हैं, ऐसा कहा है।

असारे खलु संसारे सारमेतच्चतुष्टयम्।
काश्यां वासः सतां सङ्गो गङ्गाम्भः शम्भुसेवनम् ॥

इस असार संसारमें विद्या और मोक्षस्थान होनेसे काशीमें वास, साधुसङ्ग, गङ्गाजलपान और शिवपूजन ये ही चार वस्तुएँ सारभूत हैं।

उदारस्य तृणं वित्तं शूरस्य मरणं तृणम्।
विरक्तस्य तृणं भार्या निस्पृहस्य तृणं जगत् ॥

उदार पुरुषके लिये धन तृणवत् है, शूरके लिये मरण तृणतुल्य है, विरक्तके लिये स्त्री तृणके समान है और निस्पृहके लिये जगत् ही तृणसदृश है।

जननी जन्मभूमिश्च जाह्नवी च जनार्दनः।
जनकः पञ्चमश्चैव जकाराः पञ्च दुर्लभाः ॥

जननी, जन्मभूमि, जाह्नवी, जनार्दन और जनक ये पाँचों जकार अत्यन्त दुर्लभ अतः पूजनीय हैं।

शैले शैले न माणिक्यं मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो न हि सर्वत्र चन्दनं न वने वने॥

जिस प्रकार सब पर्वतोंमें मणिमाणिक्य नहीं मिलते, सब हाथियोंमें गजमुक्ता नहीं प्राप्त होते, चन्दन वृक्ष सब वनोंमें नहीं उत्पन्न होते, उसी प्रकार सत्पुरुष भी सर्वत्र नहीं पाये जाते।

सदयं हृदयं यस्य भाषितं सत्यभूषितम्।
कायः परहितो यस्य कलिस्तस्य करोति किम्॥

जिसका हृदय दयावान् है, जिसका भाषण सत्यसे विभूषित है, जिसका शरीर परोपकारमें रत है, उसका कलि क्या कर सकता है?

किं विद्यया किं तपसा किं योगेन श्रुतेन च।
किं विविक्तेन मौनेन स्त्रीभिर्यस्य मनो हृतम्॥

रमणियोंके दर्शनसे ही जिसका चित्त मुग्ध होता है, उसके विद्या, तप, योग, वेद, एकान्तवास, मौन आदि सभी साधन निष्फल हैं।

दीपो भक्षयते ध्वान्तं कज्जलञ्च प्रसूयते।
यदन्नं भक्षयेन्नित्यं जायते तादृशी प्रजा॥

दीपक अन्धकारको भक्षण करता है, इसीसे उससे काजल उत्पन्न होता है। सारांश यह है कि, जैसा अन्न भक्षण किया जाता है, वैसी ही प्रजा (बुद्धि या सन्तान) होती है।

मातृवत्परदारान् वै परद्रव्याणि लोष्ठवत्।
आत्मवत्सर्वभूतानि यः पश्यति स पश्यति॥

जो पराई स्त्रीको माताके समान, दूसरोंके धनको पत्थरके समान और प्राणिमात्रको अपने समान देखता है, वही यथार्थ देखनेवाला है।

धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम्॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इनमेंसे एक भी जिसका नहीं सधा, उसका जन्म बकरीके गलेके स्तनोंके समान व्यर्थ है।

स जीवति गुणा यस्य धर्मो यस्य स जीवति।
गुणधर्मविहीनो यो निष्फलं तस्य जीवितम्॥

जिसमें गुण हो उसका, या जो धर्मात्मा है उसका, जीवन सफल है। जिसमें गुण नहीं और धर्मबुद्धि भी नहीं, उसका जीवन व्यर्थ है।

दिवा पश्यति नोलूको काको नक्तं न पश्यति।
अपूर्वः कोऽपि कामान्धो दिवा नक्तं न पश्यति॥

उल्लू दिनमें नहीं देखता और कौआ रात्रिमें नहीं देखता, परन्तु कामान्ध व्यक्तिकी यह अपूर्वता है कि वह न दिनमें देखता है न रात्रिमें ही।

गते शोको न कर्तव्यो भविष्यं नैव चिन्तयेत्।
वर्तमानेन कालेन वर्तयन्ति विचक्षणाः॥

बीती बातोंका शोक और भविष्यत्‌की चिन्ता बुद्धिमान् पुरुषोंको न करनी चाहिये। वे तो वर्तमान काल पर ही निर्भर रहकर कार्य्य करते हैं।

नास्ति कामसमो व्याधिर्नास्ति मोहसमो रिपुः।
नास्ति क्रोधसमो वह्निर्नास्ति ज्ञानात्परं सुखम्॥

कामके समान कोई रोग नहीं, मोहके समान शत्रु नहीं, क्रोधके समान अग्नि नहीं और ज्ञानसे बढ़कर सुख नहीं है।

हस्तस्य भूषणं दानं सत्यं कण्ठस्य भूषणम्॥
श्रोत्रस्य भूषणं शास्त्रं भूषणैः किं प्रयोजनम्॥

हाथका भूषण दान, कण्ठका भूषण सत्य और कानोंका भूषण शास्त्र-श्रवण है। इन भूषणोंके होते हुए जड़ आभूषणोंका क्या प्रयोजन है?

नाकाले म्रियते जन्तुर्विद्धः शरशतैरपि ।
कुश-कण्टक-विद्धोऽपि प्राप्तकालो न जीवति ॥

सैकड़ों बाणोंसे विद्ध होनेपर भी जीवकी अकालमृत्यु नहीं होती। काल प्राप्त होनेपर कुश-कण्टकके गड़नेसे ही प्राण कूच कर जाते हैं।

अलसस्य कुतो विद्या अविद्यस्य कुतः धनम् ।
अधनस्य कुतो मित्रममित्रस्य कुतः सुखम् ॥

आलसीको विद्या कहाँ ? विद्याहीनको धनलाभ कहां ? निर्धनको मित्र कहाँ और मित्रहीनको सुख कहाँ ?

कोकिलानां स्वरो रूपं नारीरूपं पतिव्रतम् ।
विद्या रूपं कुरूपाणां क्षमा रूपं तपस्विनाम् ॥

कोकिलोंका रूप उनका मधुर स्वर, स्त्रियोंका रूप पातिव्रत्य, कुरूपोंका रूप विद्या और तपस्वियोंका रूप क्षमा है।

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम् ।
आपत्स्वपि न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ॥

विज्ञ पुरुष जो पाने योग्य नहीं, उस वस्तुकी आकांक्षा नहीं करते, नष्ट वस्तुके लिये शोक नहीं करते और विपत्तिमें अधीर नहीं होते।

सुखमापतितं सेव्यं दुःखमापतितं तथा ।
चक्रवत्परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥

सुख प्राप्त होनेपर उसका उपभोग और दुःख आ पड़ने पर उसे सहन करना चाहिये। क्योंकि सुख और दुःख चक्रकी तरह घूमते रहते हैं।

येन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः ।
मयूराश्चित्रिता येन स ते वृत्तिं विधास्यति ॥

जिन्होंने हंसको सुफेद, शुकोंको हरे और मोरोंको विचित्र

रत्नोंसे बनाया है, वे हीं भगवान् तुम्हारी जीविकाका प्रबन्ध करेंगे, अतः भगवान्पर विश्वास रख पुरुषार्थ करना उचित है, अधीर होना उचित नहीं है ।

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता ।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्यदूरादस्पर्शनं वरम् ॥

धर्म करनेके लिये अन्यायसे धनोपार्जन करनेकी अपेक्षा निरिच्छता अधिक श्रेयस्कर होती है । कीचड़में हाथ (धोनेके विचारसे) डुबानेकी अपेक्षा उससे दूर रहना ही उत्तम है ।

तावद्भयाद्धि भेतव्यं यावद्भयमनागतम् ।
आगतन्तु भयं वीक्ष्य प्रहर्तव्यमभीतवत् ॥

भय उपस्थित होनेके पहिले उससे डरना उचित है; किंतु जब वह उपस्थित हो जाता है, तब वीरतासे उसका प्रतीकार करना चाहिये ।

मित्रद्रोही कृतघ्नश्च तथा विश्वासघातकः ।
ते नरा नरकं यान्ति यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥

मित्रोंसे द्रोह करनेवाला, कृतघ्न और विश्वासघाती तीनों अनंतकाल तक नरकवास करते हैं ।

जनिता चोपनेता च यश्च विद्यां प्रयच्छति ।
अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः ॥

जिन्होंने जन्म दिया है, जिन्होंने उपनयन किया है, जिन्होंने विद्या पढ़ाई है, जो अन्न देते हैं और जो भय-निवारण करते हैं, ये पांचों पिता ही कहे जाते हैं ।

बहुभिर्न विरोद्धव्यं दुर्जनैः सुजनैरपि ।
स्फुरन्तमपिनागेन्द्रं भक्षयन्ति पिपीलिकाः ॥

दुर्जन हो या सुजन, बहुतेरोंके साथ विरोध बढ़ा रखना उचित नहीं है । प्रचण्ड फणाधारी सर्पको भी चिउँटियाँ मिलकर खा जाती हैं ।

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराजयः।
येषां हृदिस्थो भगवान् मङ्गलायतनो हरिः॥

जिनके हृदयमें मङ्गलमूर्ति भगवान् हरि विराजमान हैं, उनका कहीं पराजय नहीं होता, उनका सर्वत्र लाभ और विजय होता है।

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
तथा वेदं विना विप्रस्त्रयस्ते नामधारकाः॥

काठका हाथी और चमड़ेका हरना जैसा केवल नाममात्रका होता है, वैसा वेदपाठ-विहीन ब्राह्मण भी नामसे ही ब्राह्मण होता है, कर्मसे नहीं।

अन्यायोपार्जितं वित्तं दश वर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते एकादशे वर्षे समूलञ्च विनश्यति॥

अन्यायसे उपार्जित धन दश वर्ष तक पासमें रह सकता है। ग्यारहवां वर्ष प्रारम्भ होते ही वह मूलसहित नष्ट हो जाता है।

क्षमातुल्यं तपो नास्ति न सन्तोषात्परं सुखम्।
न च तृष्णापरो व्याधिर्न च धर्मो दयापरः॥

क्षमाके समान तप नहीं, सन्तोषसे बढ़कर सुख नहीं, तृष्णा जैसा रोग नहीं और दयासे श्रेष्ठ कोई धर्म नहीं है।

दानेन भोगी भवति मेधावी वृद्धसेवया।
अहिंसया च दीर्घायुरिति प्राहुर्मनीषिणः॥

विद्वान् लोगोंका कथन है कि, दान करनेसे भोगोंकी प्राप्ति होती है, वृद्धसेवासे बुद्धिमत्ता प्राप्त होती है और अहिंसावृत्तिसे दीर्घायुकी प्राप्ति होती है।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥

वासनाओंको पूर्ण करते रहनेसे उनका नाश नहीं हो सकता। घृताहुत अग्निकी तरह वे अधिक ही बढ़ने लगती हैं।

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्ज्जयेत्॥

जिस कार्यके करनेसे अन्तरात्माको यथार्थ सन्तोष होता है, उसी कार्य्यको करना चाहिये; विपरीत कार्योंको छोड़ देना चाहिये।

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम्॥

विद्याके समान चक्षु नहीं, सत्यके समान तप नहीं, आसक्तिके समान दुःख नहीं और त्यागके समान सुख नहीं है!

देवे तीर्थे द्विजे मन्त्रे दैवज्ञे भेषजे गुरौ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी॥

देवता, तीथ, ब्राह्मण, मन्त्र, ज्योतिषी, औषध और गुरु इनके सम्बन्धमें जैसी जिसकी भावना होगी, वैसी ही सिद्धि उसे प्राप्त होगी। अन्ततः श्रद्धासे फल होता है।

किमाराध्यं सदा पुण्यं कश्च सेव्यः सदागमः।
को ध्येयो भगवान् विष्णुः किं काम्यं परमं पदम्॥

सदा प्रार्थनीय क्या है? पुण्य। सदा सेवनीय क्या है? शास्त्र। ध्यान करने योग्य कौन है? भगवान् विष्णु। इच्छा करने योग्य क्या है? मोक्षपद।

भोगः परोपतापेन पुंसां दुःखाय न स्थिरः।
पानमप्यसृजः क्षिप्रं स्वपीडायै जलौकसाम्॥

अत्यन्त ताप उत्पन्न करनेवाला और अस्थिर होनेके कारण भोग मनुष्यको दुःख ही देता रहता है। देहकी सारवस्तु रक्तके पानसे भी जोंकको अचिरात् दुःख होता है।

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति॥

मृत्युके पश्चात् शरीरके साथ सब कुछ नष्ट हो जाने पर एक मात्र धर्म ही मित्रके समान साथ जाता है।

सपदि विलयमेतु राजलक्ष्मीः,
उपरि पतन्त्वथवा कृपाणधाराः।
अपहरतुतमां शिरः कृतान्तः,
मम तु मनो न मनागपैतु धर्मात्॥

चाहे अभी समस्त राजलक्ष्मी चली जाय, चाहे ऊपरसे तलवारें ही सिर पर आ गिरें, चाहे यमराज स्वयं आकर अभी प्राण हरण करलें, इनका मुझे कोई दुःख नहीं, परन्तु धर्म्मसे मेरा मन क्षणभर भी च्युत न हो।

—— :※: ——

नीति-चन्द्रिका ।

(उत्तरार्ध)

स्नेह-प्रेम-श्रद्धा ।

मानवी जीवनको मधुर बनाकर भगवान्की ओर लेजानेके लिये जीवनके अन्तःकरणमें 'स्नेम-प्रेम-श्रद्धा' का उदय होता है। वेदोंमें भगवान्को रसरूप कहा है। भगवान् ही सब रसोंके आधार हैं। उन्हीका रस मायाके संयोगसे स्नेह, वात्सल्य, प्रेम आदि रूपोंसे लौकिक जगत्में जीवोंको मुग्ध करता रहता है। जिसमें जितना शुद्ध रसका विकाश होगा, वह भगवान्के निकट उतना ही अधिक अग्रसर हो सकेगा। रूखे हृदयके लोग कभी रसरूप भगवान्को नहीं पा सकते। इसीसे रसकी शक्तिकी शास्त्रोंमें इतनी महिमा गायी गयी है।

लौकिक जगत्में इसी रसको स्नेह, प्रेम और श्रद्धा इन तीन भागोंमें विभक्त किया जाता है। अपने छोटे लोगोंके प्रति जो प्रीति उदित होती है, उसको स्नेह कहते हैं। यह स्नेह वात्सल्यादि रूपसें केवल मनुष्यमें ही विकसित होता है यह बात नहीं, अधिकन्तु मनुष्येतर जीवोंमें भी यथेष्ट स्नेहभावका विकाश देख पड़ता है। दावानलमें जलती हुई चिड़िया जिस मधुर भावसे अपने पंखोंमें, शरीरमें थोड़ा भी प्राण है तबतक, बच्चेको छिपाये रहती है, यह पक्षियोंमें स्नेहके अनुपम विकाशका परिचायक है। भूखी विहङ्गिनी दिनभर खोजकर जब कुछ आहार पाती है, तो वह चोंचमें रख जिस मधुरभावसे परम प्रीतिके साथ घोसलेमें रक्खे हुए अपने बच्चोंको खिलाती है, यह स्नेह रसका अपूर्व विकाश मात्र

है। जीव जितना जीवत्वके उन्नत पदपर आरूढ़ होता है, स्नेह भाव उतना ही बढ़ता जाता है। अण्डज योनिकी अपेक्षा पशु-योनिके जीव अधिक स्नेहपरायण होते हैं। पयस्विनी गोमाता अपने बछड़ेको सस्नेह नेत्रोंसे देखती है, मधुर भावसे हुंकार कर हृदयामृतसे उसका प्रतिपालन करनेकी कैसी चेष्टा करती है, सो देखकर स्नेहके ज्वलन्त आदर्शका अनुभव होता है। व्याघ्र दूसरे जीवोंका मांस खाता है, किन्तु अपने बच्चेका रुधिर पान नहीं करता। व्याघ्रके कठोर हृदयमें यह कोमलता कैसे आई? अपत्य-स्नेहका अनुपम विकाश ही इसका कारण है। इस प्रकार मनुष्येतर जीवोंमें भी उनसे छोटोंके प्रति उनका स्नेहभाव देख पड़ता है।

मनुष्ययोनिमें आकर जीव इस स्नेहभावका और भी मधुर आस्वाद चखता है। गृहस्थाश्रममें इस भावका प्रस्रवण अविरल धारासे प्रवाहित होता है। गृहस्वामी जो महाप्राणताके साथ स्वयं क्लेश सहन कर अपने परिवारको सुखी करनेके लिये लालायित रहता है, स्वयं भूखा रह कर भी स्त्री-पुत्रोंको खिलानेमें सुख मानता है, सो दिव्य स्नेहके अलौकिक विकाशका ही फल है। इस स्नेहके प्रभावसे ही गृहस्थाश्रममें शान्तिसुधा सिञ्चित होती है और इस आश्रमधर्मके प्रतिपालनसे गृहस्थके हृदयमें मधुरिमामय भगवद्भावका क्रमविकाश होता है। केवल गृहस्थाश्रममें ही क्यों, प्राचीन गुरुगृहमें भी यही भाव विशेषरूपसे देख पड़ता था। उस समयके आचार्य्य शिष्योंके धर्मपिता और आचार्य्यपत्नी धर्ममाता होकर अपत्य स्नेहसे शिष्योंका प्रतिपालन करते हुए शिक्षादान करते थे और शिष्य भी गुरुसेवा कर गंभीर विद्यालाभ कर कृतकृत्य होते थे। इस प्रकार रसरूप भगवान्‌की रसकणासे उत्पन्न हुआ स्नेहरस जीवोंके हृदयोंमें जागकर शिवत्वकी ओर परम्परारूपसे बढ़ता चला जाता है, यही भक्ति-शास्त्रका चिर सिद्धान्त है।

स्नेहरस निम्नगामी और प्रेमरस समगामी है। समान समानमें प्रेम होता है। दो बन्धुओंमें एक प्राणता, दम्पति (स्त्री पुरुष) का मधुर अनुराग, ये समगामी प्रेमके दृष्टान्तस्वरूप हैं। प्रेम बड़ी ही सात्त्विक और पवित्र वस्तु है। जीवभाव स्वार्थपरतामूलक है। जीव साधारणतः जो कुछ करता है, अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये ही करता है। स्वार्थभावमें प्रेमका उदय नहीं होता। यह स्वार्थ संकुचित होकर दूसरोंके लिये त्यागका जीवन जितना प्राप्त होता, उतना ही प्रेमका उदय हुआ करता है। प्रेम त्यागकी शिक्षा देता है, प्रेमपात्रके लिये अपना सर्वस्व अर्पण करनेको सिखाता है, अपने प्राण, अपने सुखको तुच्छ समझ कर प्रेमकी यज्ञाग्निमें मन-प्राणोंकी आहुति देना सिखाता है और इस भावकी पूर्णतासे ही प्रेमकी पूर्णता होती है। इस कारण आर्यशास्त्रमें प्रेमके क्रमोन्नत तीन भावोंका वर्णन किया गया है। यथा—'तुम हमारे हो' 'हम तुम्हारे हैं' और 'तुम ही हम हैं' प्रथम अवस्थामें प्रियतमके सुख दुःखोंको अपने सुख दुःख समझ कर प्रेमिक एकप्राणताकी ओर अग्रसर होता है और सब प्रकारसे प्रियतमके सुखसाधनके लिये आत्म-समर्पण करना सीखता है। द्वितीय अवस्थामें अपना यथेच्छ अभिमान छोड़कर वह प्रियतमका ही हो जाता है। उसकी स्वतंत्र सत्ताका अस्तित्व नहीं रहता और उसे स्वतन्त्र जीवनधारण भी निरर्थक बोध होता है। सती स्त्री अपने प्रेमपूर्ण हृदयमें यही दिव्य भाव जागृत कर मृत पतिके साथ एक चितापर आरोहण करनेमें समर्थ होती है। तृतीय अवस्थामें प्रेमकी पूर्णतासे अद्वैत स्थिति प्राप्त होती है। उसकी आत्मा प्रियतमकी आत्माके साथ, उसके प्राण प्रियतमके प्राणके साथ और उसका मन प्रियतमके मनके साथ मिलकर एकरूप हो जाता है। इस अवस्थामें प्रियतमके कल्याणके लिये किया न जा

सके, ऐसा कोई कार्य ही संसारमें नहीं रहता। प्रियतमकी प्राणरक्षाके हेतु अपने प्राणको निछावर कर देना, उसके लिये महाप्राण लाभका कारण बन जाता है। अपने समस्त सुखोंपर तिलाञ्जलि देकर रात दिन प्रियतमके सुखसाधनोंमें लगे रहना, उसके जीवनका अनन्य व्रत हो जाता है। स्वार्थपूर्ण जगत्में इस प्रकारके प्रेमकी पराकाष्ठा अति विरल देख पड़ने पर भी असम्भव नहीं है। भीषण युद्धमें प्रियतमको अपने देहके द्वारा आवृत कर प्राण समर्पण किये हुए प्रेमके मधुर दृष्टान्त इतिहासोंमें पाये जाते हैं। ज्वलन्त वह्निमें सानन्द शयन कर प्रियतमको अपनी गोदमें रख विजयभूमिमें प्रतिष्ठित करना इस प्रेमका ही पवित्र निदर्शन स्वरूप है। इस प्रकार जीवहृदयमें त्यागमूलक प्रेमका विकाश होनेसे भगवत्प्रेमकी उत्पत्ति स्वाभाविक रूपसे होकर वह प्रेम जीवको शिव भावकी ओर शीघ्रतासे अग्रसर करता है, इसमें अणुमात्र संदेह नहीं है।

स्नेह निम्नगामी, प्रेम समगामी और श्रद्धा उन्नतगामिनी है। अर्थात् अपनेसे श्रेष्ठ नर नारियोंके प्रति ही श्रद्धा होती है। पिता, माता, ज्येष्ठभ्राता, प्रौढ़ आत्मीय जन आदि सभी श्रद्धास्पद हैं। इन लोगोंके वशमें रहना, इनकी आज्ञाका पालन करना, अनुराग सहित कर्त्तव्यका पालन करना, स्वार्थ त्याग करना, सुख साधनकी चेष्टा करना आदि सभी श्रद्धाके निदर्शन स्वरूप हैं। इस प्रकार श्रद्धाके अनुष्ठान द्वारा हृदयमें पवित्रताका संचार होता है। दीर्घायु और अधिक कल्याणका लाभ होता है तथा श्रद्धावान् मनुष्य आध्यात्मिक पथमें स्वयं अग्रसर हुआ करता है। पिता-माताके समान भगवान्के विभूति स्वरूप प्रजारञ्जक वर्णाश्रमधर्मावलम्बी राजाके प्रति भी श्रद्धा करनेकी आज्ञा हमारे शास्त्रोंने दी है। आर्यशास्त्रोंमें लिखा है कि, प्रजावत्सल, सनातनधर्मपरायण, न्यायशील राजाके शरीरमें अष्ट लोकपालोंके अंश होते हैं। मनु संहितामें कहा है—

सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् ।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥

सनातन धर्मके प्रभावसे राजा, अग्नि, सूर्य, वायु, चन्द्र, यम, कुवेर, वरुण और इन्द्र होता है। आर्यशास्त्रका सिद्धांत है कि, जितने दिन राजा (सनातनधर्मोक्त) राजधर्मपरायण, न्यायवान, प्रजापर पुत्रोंके समान प्रेम करनेवाला और निर्लोभ रहेगा, तभी तक उक्त लोकपाल उसके शरीरमें यथास्थान अपना केन्द्र स्थापन कर रहेंगे; किंतु जब वह इन धर्मोंका त्याग कर देगा, तब वे लोकपाल भी उसके शरीरको त्याग देंगे। ऐसा होने पर राजा श्रीहीन, शक्तिहीन और असुरभावग्रस्त हो जायगा। हिंदुजाति स्वभावतः राजभक्त है, इस कारण हिंदुशास्त्रमें राजद्रोह पाप माना गया है। राजाप्रजाका पहिले कैसा कमनीय सम्बन्ध था, इसकी कुछ छटा अब तक देशी राज्योंमें देख पड़ती है। नृपतिका परलोकवास होनेपर वहांकी प्रजा अशौच पालन कर राजाका यथाविधि श्राद्ध करती है। काल चक्रके प्रभावसे राजा प्रजाका यह मधुर सम्बन्ध मन्दीभूत होनेपर भी अभीतक कहीं कहीं उन्नत आदर्श देखा जाता है। स्नेह, प्रम, श्रद्धा ये त्रिविध रसधारायें गंगा, यमुना, सरस्वतीकी तीन धाराओंके समान मानवहृदयमें सम्मिलित होकर मानव हृदयको मुक्तिप्रद प्रयागरूपमें परिणत कर देती हैं और जीवको अमोघ नित्यानन्दप्रद शिवत्वकी ओर सर्वदा अग्रसर करती रहती हैं, इसमें अणुमात्र संदेह नहीं है।

निर्मोहता।

काम से संसारकी उत्पत्ति और मोहसे स्थिति होती है। मोहके वशीभूत होकर ही 'मेरा पुत्र, मेरी कन्या, मेरा घर, मेरी सम्पत्ति' आदि कहता हुआ जीव संसारजालमें फंस जाता है। संसारमें किसीका किसीसे वास्तविक कुछ भी सम्बन्ध न होनेपर भी मोहरिपु कृत्रिम सम्बन्ध उत्पन्न कर सुखदुःखमय संसारचक्रमें जीवको घुमाया करता है। यह मेरी वस्तु है, यह मेरी सन्तान है, इसी प्रकारके ममत्वका उदय होनेसे उस वस्तु या सन्तानके प्रति मोह उत्पन्न होता है और उसके सुखसे सुख तथा दुःखसे दुःख प्रतीत होने लगता है। मान लो, किसीको एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसके उत्पन्न होते ही पिताने 'मेरा पुत्र' कहकर उसके साथ मोहके द्वारा अपनी आत्माका सम्बन्ध स्थापन किया। मोहके वशमें आकर कितनी उच्च आशाओंको उसने अपने हृदयमें स्थान दिया सो देखिये—यह बच्चा बड़ा होगा, लिखना पढ़ना सीखेगा, रुपये कमायगा, बड़े बड़े भवन निर्माण करायगा, इसका विवाह होगा, इसके द्वारा वंशकी वृद्धि होगी, यह पितृ-भक्त होगा इत्यादि। किन्तु इस प्रकारकी कल्पनाओंको हृदयमें स्थान देनेसे फल यह होगा कि, यदि किसी दिन उस बच्चेको कोई कठिन रोग हो, तो पिताके हृदयमें जमी हुई आशालता शुष्क हो जायगी, वह चिन्तासे आकुल हो उठेगा और सोचने लगेगा कि, हाय! सब आशायें निराशासिन्धुके जलमें निमग्न हो रही हैं। इस चिन्तासे उसे बड़ा ही मर्मविदारक दुःख होता रहेगा। संसारमें रोग शोक रहा करते ही हैं। इसीसे मोहकी वस्तुके द्वारा प्रायः ऐसे दुःखोंका उदय हुआ करता है। विद्यालाभ, चरित्रलाभ, धनलाभ या आयुलाभ बहुधा पूर्वकर्मों

पर निर्भर रहता है। अन्ततः सभीके बच्चे विद्वान्, चरित्रवान्, धनी और दीर्घायु होंगे यह नियम नहीं है। यदि सन्तान अनेक प्रयत्न करनेपर भी पूर्वकर्मवश मूर्ख रही, धनोपार्जन न कर सकी, दुश्चरित्र हुई, पिताके प्रति असद्व्यवहार करने लगी अथवा अल्पायु होकर शीघ्र ही यमसदनमें चल बसी, तो फिर पिताके दुःखकी अवधि नहीं रहेगी। शास्त्रोंमें लिखा है—

सुखाद्बहुतरं दुखं जीविते नात्र संशयः।

जीवनमें सुखकी अपेक्षा दुःखकी ही अधिक सम्भावना रहती है। इसीसे मोहग्रस्त माता पिता और कुटुम्बी संसारमें बड़े कष्ट पाते हैं। पहले पहल गृहस्थीमें प्रवेश करते समय मनुष्य यह सब समझ नहीं सकता। उस समय चारों ओर सुखकी हरियाली ही सूझा करती है; किन्तु क्रमशः जीवन मरुके उत्तापसे सब हरियाली सूख जाती है और दुःखोंके मेघ उमड़ आते हैं। फिर चारों ओर दुःख ही दुःख देख पड़ता है। एक विपत्ति पूरी कटी ही नहीं, त्योंही दूसरी विपत्ति सामने आजाती है। सारांश, मायाके वशमें पड़कर मनुष्यका मन इतना दुर्बल हो जाता है, मोहमूलक इतने कृत्रिम कर्तव्य उसे करने पड़ते हैं कि, इच्छा करनेपर भी वह उसे छोड़ नहीं सकता। इसीसे महाभारतमें लिखा है—

पुत्रदारकुटुम्बेषु सक्ताः सीदन्ति जन्तवः।
सरःपङ्कार्णवे मग्ना जीर्णा वनगजा इव॥

जिस प्रकार वृद्ध वनहस्ती पङ्कपूर्ण जलाशयमें पड़कर फिर नहीं निकल सकता, उसी प्रकार स्त्री पुत्र कुटुम्बके मोहबन्धनमें बद्ध होकर वहीं फंसा हुआ जीव बड़ा कष्ट पाता है। जीवनमें ही केवल वह कष्ट नहीं पाता, किन्तु मरण समय भी मोहपाशको छेदन न कर सकनेके कारण उसे मर्मान्तिक वेदनाएं सहन करनी पड़ती हैं। 'हाय! मैं कैसे अपने दूधपीते बच्चेको छोड़ जाऊँ? मेरी स्त्री

मेरे वियोगसे अनाथिनी होगी, मेरा इतने कष्टोंसे उपार्जन किया हुआ धन क्या होगा?" ये चिन्ताएँ उसके चित्तमें मरण समयमें उदित होकर दारुण दुःख देती हैं। कितने ही दुर्बल चित्तके मोहमुग्ध लोग इसी दुःखमें मूर्छित होकर मर जाते हैं और मृत्युके पश्चात् प्रतयोनिमें जाकर बहुत कष्ट पाते हैं। अनेक लोग पशुपक्षियोंके मोहमें पड़कर पशुपक्षियोंकी योनिको प्राप्त होते हैं। भरत मुनिने इतनी तपस्या करनेपर भी अन्त समयमें एक मृगशिशुमें चित्त लगा रहनेसे मृगयोनि प्राप्त की थी। भागवतमें लिखा है कि, स्त्रीमोहके कारण पुरञ्जनको स्त्रीयोनि प्राप्त हुई थी। मोहमें पड़कर जीवको चक्रकी तरह पुनः पुनः संसारमें आकर नाना प्रकारके क्लेश सहन करने पड़ते हैं। इसीसे महर्षियोंने मोहत्यागका उपदेश किया है।

भागवतमें मोहत्यागके उपायके सम्बन्धमें लिखा है "आन्वीक्षिक्या शोकमोहौ" अर्थात् विचारोंके द्वारा शोक मोहका नाश हो सकता है। जीव कर्मानुसार संसारमें विविध योनियोंमें जन्म ग्रहण करता है। बहुतसे जीवोंके कर्मसमूहोंमें एकता होनेसे वे एक परिवारमें उत्पन्न होकर कोई माता, कोई पिता, कोई भ्राता, कोई भगिनी आदि नामोंसे अभिहित होते हैं। जिसके साथ जिसका जिस भावसे सम्बन्ध होनेपर दोनोंके कर्मभोग ठीक तरहसे हो सकें, उसके साथ उसीका उसी भावसे सम्बन्ध रहता है। इसी तरह केवल कर्मानुसार काल्पनिक सम्बन्धका उदय होता है। जबतक कर्मका सम सम्बन्ध हो, तभी तक जीव जीवित रहता है, सम्बन्ध शेष होनेपर मृत्यु होती है, अर्थात् स्थूल शरीरका नाश होता है और इस जन्ममें जो कुछ कर्म किये हों, उनका भोग करनेके लिये जिस घरमें जन्मग्रहण करना उचित है, उसी घरमें वह जन्म पाता है। वहां नूतन माता पिता पाकर फिर नूतन सम्बन्ध स्थापित होता है। इसी तरह जीवके

लाखों जन्म होते हैं और होते रहेंगे तथा वह लाखों पिता, माता, स्त्री-पुत्रादि प्राप्त करता है और करता रहेगा। ऐसी दशामें किसके लिये शोक किया जाय या किसपर मोह किया जाय ? कोई किसीका नहीं है, केवल कर्मवश दो दिनोंका यह मिलन है। इस प्रकारके विचारोंसे मोह दूर हो सकता है। केवल जितने दिनों तक मिलन है, मनमें सोचना चाहिये कि, जब यह जीव मेरे पुत्र, कन्या या और किसी रूपमें सम्बन्धका आश्रय कर मुझसे कर्मके वशीभूत होकर मिला है, तब जितने दिन कर्म वश यह जीवित है, उतने दिन जिससे इसकी सब प्रकारकी उन्नति हो, ऐसी चेष्टा करनी चाहिये। यह बड़ा होकर हमें सुखी करेगा या दुःखी करेगा, बचेगा या मरेगा, अपनी इच्छानुसार इसकी कल्पना करनेका हमें कोई अधिकार नहीं है। हमें केवल जीवरूपसे भगवत्सेवा करने भरका अधिकार है। पुत्र, कन्या, भ्राता, भगिनी, माता, पिता आदिको भगवान्के स्वरूप समझ कर परिवारकी सेवा ही भगवान्की सेवा है ऐसा यदि मान लिया जाय और उनके साथ अपने सुख दुःखोंका अभिमान न रखकर इस पूजाका फल भी भगवान्को अर्पण कर देनेका अभ्यास किया जाय, तो मोहादि वृत्तियाँ धीरे धीरे कम होती जायँगी और केवल कर्त्तव्यमात्र अवशेष रहेगा। सुख दुःखका सम्बन्ध उन कुटुम्बियोंके साथ न हो कर भगवान्के साथ होगा। गृहस्थ यदि इस प्रकारसे उदासीन रह कर गृहस्थी करें, तो अन्तमें वे परम गतिको प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकेंगे। संसार उनके लिये बन्धनका कारण न होकर प्राक्तन मन्द संस्कारोंके क्षयका कारण होगा। ऐसे ही गृहस्थ कुछ दिन गृहस्थाश्रममें रहकर पश्चात् वानप्रस्थ और संन्यासाश्रमके अधिकारी होते हैं। विचार पूर्वक इसी उपायका अवलम्बन करनेसे मनुष्य मोहजालसे छूट सकता है। अपने पिता, माता, भाई, भगिनी आदि पर प्रेम करना तो आवश्यक

ही है, किन्तु मोहग्रस्त होना उचित नहीं है। संसारमें जीना मरना लगा हुआ है, वह किसे छूटा है? इस जन्ममरणके सन्धिकालमें यदि चित्तमें सुख या दुःखका उदय न हो, तो समझना चाहिये कि, अब हृदयमें मोह नहीं है। सब जीवोंके प्रति दयावान होना उचित है, परन्तु मोहपरवश न होना चाहिये। दया सत्त्वगुण और मोह तमोगुण है। इससे चित्तकी मलिनता बढ़ती है। अन्ततः बाल्यकालसे ही मनुष्य, पशु, पक्षी आदिके प्रति मोह उत्पन्न न होकर सबके प्रति स्नेह, प्रेम और दया उपजती रहे, ऐसी चेष्टा प्रत्येक व्यक्तिको करनी चाहिये।

निरहङ्कार।

अहङ्कार जैसा प्रबल शत्रु दूसरा नहीं है। इसके उदयसे ज्ञानका पथ एकदम रुद्ध हो जाता है। इसके पाले पड़कर लोग अपनेको ही सबसे अधिक पण्डित, ज्ञानी, बुद्धिमान्, विद्वान और श्रेष्ठ समझने लगते हैं। अपनी क्षुद्र योग्यताको न सोचकर उसे अधिक समझना और दूसरोंकी अधिकतर योग्यताको भी तुच्छ जानकर उसकी उपेक्षा या अनादर करना, यही अहङ्कारी स्वभावका लक्षण है। इस लक्षणसे ही समझा जा सकता है कि, अहङ्कारका उदय होते ही राहुग्रस्त सूर्य्यकी तरह ज्ञान आच्छन्न हो जाता है। जो कुछ हम जानते हैं, उसीसे यदि फूले न समायँ और अपनेको सर्वज्ञ समझने लगें, तो फिर ज्ञान बढ़ नहीं सकेगा। जिनसे विद्यालाभ हो सकता है, उन गुरु, आचार्य्य या शिक्षकके सम्बन्धमें भी यदि यही धारणा रही कि, वे मुझसे क्या अधिक जानते हैं, तो उनसे भी विद्यालाभ करना असम्भव होगा। क्योंकि ऐसी बुद्धि रहते हुए गुरुजनके प्रति विश्वास ही नहीं होगा और

उनके उपदेश बीज हृदयमें नहीं जमेंगे, अपनी धारणा या ज्ञानके विरुद्ध यदि गुरुजन उपदेश दें तो उसे अमान्य करनेकी इच्छा होगी, वह झूठ है यह सिद्ध करनेका यत्न होगा और अपने मतको गुरु यदि भूल कहें तो अच्छा नहीं लगेगा और गुरुके मतको काटकर अपना ही मत भूलरहित है यह प्रमाणित करनेकी प्रवृति होगी। अहङ्कारसे ही ये कुवृत्तियां उत्पन्न होती हैं और इन्हींके द्वारा ज्ञान-पथ बन्द हो जाता है।

आजकल धार्मिक शिक्षाके अभावसे स्कूल कालेजके विद्यार्थियोंमें प्रायः ऐसा अहङ्कार देखा जाता है। वे सभी बातें अपनी बुद्धिकी तराजूपर तौल लेना चाहते हैं। अर्थात् उनकी समझ होती है कि, जो हम जान सकें वह सत्य और जो न जान सकें वह मिथ्या है। परन्तु ऐसी धारणा नितान्त भ्रममूलक है। क्योंकि अनन्त-ज्ञानमय भगवान्के अनन्तज्ञानराज्यकी बातें वह जीव कहां तक समझ सकता है, जिसकी बुद्धिका अन्त है? वह कितना ही क्यों न समझ ले, अहङ्कारमें फूलकर अपने क्षुद्रज्ञानके बलपर कितना ही क्यों न उड़े, कभी सर्वज्ञ नहीं हो सकता। महर्षि पत-ञ्जलिजीने योगदर्शनमें कहा है--"तत्र निरतिशयं सार्वज्ञ्यबीजम्।" अशेष सर्वज्ञताका बीज भगवान्में है, मनुष्यमें नहीं है। क्योंकि जीवकी सत्ता ही जब देश, काल और वस्तुके द्वारा सीमाबद्ध है, तो उसमें असीमज्ञानका विकाश कैसे हो सकेगा? असीमज्ञानका विकाश देशतः, कालतः और वस्तुतः सीमाशून्य सर्वव्यापी ज्ञानस्व-रूप भगवान्में ही हो सकता है। अतः कितना ही ज्ञान क्यों न हो मनुष्यको अहङ्कार करना उचित नहीं है। अहङ्कार करनेसे पतन होता है और ज्ञानलाभके द्वार रुद्ध हो जाते हैं। ये जो अनन्त आकाशमें सूर्य्य-चन्द्र-नक्षत्र-धूमकेतु-ग्रह-उपग्रहादि चमक रहे हैं, बहुत यत्न करने पर इनमेंसे कुछ नक्षत्रोंकी हमें पहिचान होती है।

हमारे इस विशाल भूमण्डलमें कितनी ही रहस्य पूर्ण घटनाएँ प्रतिदिन हुआ करती हैं। इसमें कुछ घटनाओंका ही ज्ञान करनेमें हम समर्थ होते हैं, हम अनन्तकी तुलनामें वालुकणासे भी क्षुद्र और अकिञ्चित्कर हैं। अतः हमें अहङ्कारी होना उचित नहीं है। नतमस्तक होकर अनन्त विभु भगवान्को प्रणामकर ज्ञानमयके निकट ज्ञानभिक्षा मांगना उचित है और जिन ऋषि महर्षियोंके समाधि-शुद्ध अन्तःकरणमें उन्होंने ज्ञानका विकाश किया है, उनके प्रणीत स्मृति—पुराणादि शास्त्रोंपर प्रगाढ़ भक्ति रखना उचित है। स्मृति-पुराणादि शास्त्रोंमें सदाचार, नित्य-नैमित्तिक-कर्म आदिके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा है, वह सब सत्य है और पालनीय है, यह पहले ही समझ लेना चाहिये। उसमेंसे यदि कोई मर्म या विज्ञान-युक्त रहस्य समझमें न आ सके, तो यह न समझ बैठे कि, यह मिथ्या है; किन्तु समझना चाहिये कि, अभी तक हमारा ज्ञान और बुद्धि इसके समझने योग्य उन्नत नहीं हुई है। इसी प्रकार यथार्थ कल्याणकी प्राप्ति होगी, अहङ्कार उत्पन्न न हो सकेगा और ज्ञानके कपाट शीघ्र उन्मुक्त हो जायंगे।

अहंकारसे ही जीवका बन्धन होता है। समस्त संसारमें भगवान् व्याप्त हैं, किन्तु हम अपनेको दूसरोंसे पृथक् समझते हैं। दूसरोंमें जैसे भगवान् व्याप्त हैं, वैसे हममें भी आत्मारूपसे विद्यमान हैं, ऐसी सत्यचिन्ता हमारे हृदयमें उदित नहीं होती, इसका कारण अहङ्कार है। अहङ्कार ही व्यापक परमात्माके राज्यमें एक जीवको अन्य जीवसे पृथक् कर प्रत्येक जीवको अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये उन्मत्त कर देता है। अहङ्कार ही जीवमें अनुदार स्वार्थ-बुद्धि उत्पन्न करनेमें कारणस्वरूप है। हम अपनेको, अपनी सन्तानको जैसा चाहते हैं, वैसा दूसरोंको, दूसरोंकी सन्तानको नहीं चाहते। अपने और दूसरोंके बीचमें ऐसा अनात्मीयभाव

उत्पन्न करनेवाला एकमात्र अहङ्कार है। अन्यथा यदि हम अपनी और दूसरोंकी आत्माको समान समझें, तो हमें विश्वप्रेम प्राप्त होकर हम धन्य होंगे। हमारा क्षुद्र स्वार्थमूलक संसारबन्धन कट जायगा और विश्वजगत्के जीवसमूहको अपना कुटुम्ब समझते हुए निःसंकोच भावसे सभीके लिये प्राणविसर्जन करनेमें हम समर्थ हो सकेंगे। अहङ्कारने ही एक जीवकी आत्माके साथ अन्य जीवकी आत्माको भिन्नताका भ्रांताभिमान उत्पन्न कर हमें इस नीच-भावमय दुर्दशामें गिरा दिया है। इस अहङ्कारके कारण ही अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये जीव कितने ही पापाचरण प्रतिदिन किया करता है; कितनी गोहत्या, स्त्रीहत्या, बालहत्या, नरहत्या, जुआ, चोरी, डकैती, शठता, प्रवञ्चना, अनाचार, दुराचार आदि नित्य होते हैं; कितने ही अमरावतीके नन्दनकानन वालुकामयी भीषण मरुभूमिमें परिणत होते हैं; कितने ही जातीय विप्लव, महासमर, जगद्व्यापी महायुद्ध आदि द्वारा रुधिरकी धाराएं बहकर संसारको भिगाया करती हैं, जिनकी गणना कौन कर सकता है? इन सब अनर्थोंका मूल अहङ्कारके सिवा और क्या कहा जा सकता है? अतः परम प्रयत्न कर इस अहङ्कारका दमन करना चाहिये।

तेज।

—:❀:—

तेज हृदयकी बड़ी ही उच्च वृत्ति है। इसके विकाशसे जीवहृदय विषयवासनाओंकी दुर्बलताका त्यागकर आत्माकी ओर बढ़ता है और आत्माको अवनत करनेवाले व्यापारोंको कदापि सहन नहीं करता।

अनेक समयमें तेजस्विताको क्रोध समझकर लोग भ्रममें पड़ते हैं। परंतु तेज क्रोध नहीं है। यह उन्नत आत्माका ज्योतिर्मय विकाशमात्र है। क्रोध चित्तको विषयकी ओर आकृष्ट कर अवनत करता है। किन्तु तेज अपने स्वरूपको प्रकाशित कर जीवको आत्माके पथमें ले जाया करता है। क्रोध विषयवासनाकी तृप्ति न होनेसे उत्पन्न होता है, किन्तु तेजका प्रकाश आत्माके अवनतिकर व्यापारोंके साथ संग्राम करते समय देख पड़ता है। हम ब्राह्मण हैं इस कारण संयम, तपस्या, जितेन्द्रियता आदि हमारे नैसर्गिक धर्म हैं। यदि इन धर्मोंसे किसी कारण हम गिर जायं, तो हममें तेजका उदित होना आवश्यक है और उस आत्मीय तेजके बल-पर हमें अपनी अधोगतिको रोक लेना उचित है। हम आर्यसन्तान हैं, हमारी रग रगमें पवित्र आर्यरक्त अनादिकालसे प्रवाहित हो रहा है, हमारी मातायें सतीत्वकी पवित्र ज्योतिसे चमकती हुई स्वप्नमें भी परपुरुषकी चिन्ता करना पाप समझती हैं, हमारे आर्यकुलभ हृदयोंकी गति आध्यात्मिकताकी ओर—परमात्माकी ओर—द्रुतवेगसे प्रधावित हो रही है, हमारे वर्णाश्रमधर्मकी अपूर्वता और अलौकिकता जगत्में अतुलनीय है, हमारे सदाचार शरीर, मन और बुद्धिको निरन्तर पवित्र करनेवाले हैं, हम ऋषियोंकी सन्तान हैं, ज्ञानियोंके पुत्र हैं, इस प्रकारका सात्त्विक अभिमान मनमें रहना उचित है। इसी अभिमानके अनुसार आदर्श आर्यजीवन और ज्ञान-धन ऋषियोंका जीवन जिससे प्राप्त हो सके, ऐसी चेष्टा करना उचित है। यदि इसमें किसी कारणसे बाधा पड़े, तो तेजस्वितासे उसका प्रतीकार करना चाहिये। ऐसी ही आत्मसत्ताके विलासको तेज कहते हैं। हमें क्रोधी नहीं, किन्तु तेजस्वी होना चाहिये। तेजके बिना कोई व्यक्ति या जाति जीवनसंग्राममें विजय नहीं पा सकती, न उन्नतिके शिखरपर ही आरूढ़ हो सकती है। हिंदु जाति आपने

प्राणोंका तेज खो देनेसे ही आज मरीसी हुई है और संसारकी सब जातियोंके द्वारा घृणाकी दृष्टिसे देखी जाती है। हम अपने तेजसे आर्यमाताके दूधके तेजसे, आत्माके अलौकिक तेजसे, भारतमाताकी यह दीन दशा दूर करेंगे, यही हमारे प्राणोंकी भगवान्के प्रति प्रार्थना है और यही हमारे जीवनका लक्ष्य होना उचित है।

जैसी क्रोधके साथ तेजकी बाहरी समानता है, वैसी अहङ्कारके साथ भी बनी हुई है। इसीसे तेजस्वी व्यक्तिको भ्रमवश लोग अहङ्कारी समझने लगते हैं, परन्तु तेज और अहंकारमें बहुत ही अन्तर है। अहङ्कार जीवको विषयकी ओर लेजाता है, किन्तु तेज मनुष्यमें सात्त्विकस्वरूपज्ञान उत्पन्न करता है। इससे वह अवनतिसे बचकर आत्माके पथका बटोही बनता है। जो ब्राह्मण हैं, वे अन्य वर्णोंको तुच्छ दृष्टिसे न देखें, परन्तु ब्राह्मण होनेका सात्त्विक अभिमान हृदयमें अवश्य ही बना रहने दें, नहीं तो ब्राह्मणसुलभ त्याग, जितेन्द्रियता, अर्थके प्रति अनासक्ति, निर्लोभता, तपस्या, ज्ञानस्पृहा आदि किसी दैवी सम्पत्तिका वे लाभ न कर सकेंगे। "मैं ब्राह्मण होकर, त्यागी ऋषिका पुत्र होकर, किस प्रकार ऐसा अन्यायाचरण करूं? क्षुद्र स्वार्थके लिये क्यों मिथ्या बोलूं? स्वधर्मनाश क्योंकर करूं? यह कभी न होगा, प्राण भलेही चले जायं, ब्राह्मणधर्मसे च्युत नहीं होऊं॥" ऐसे तेजस्वी विचार और इनके अनुसार जीवनसम्बन्धी आचार नियमित करनेको ही सात्त्विक अभिमान कहते हैं। हमारे देशके क्षत्रिय सात्विक अभिमानसे च्युत होनेके कारण ही अपनी प्राचीन वीरताको खो बैठे हैं। उनमें अब न वह साहस है, न वीर्य है, न उद्यम है और न धर्मके लिये प्राणोंकी आहुति देनेकी सामर्थ्य ही है। यदि हम अपनी धमनीमें आर्यरक्तके प्रवाहित होनेका कुछ भी अनुभव करते, अपने जीवन में आर्यजीवनकी जीवनी शक्ति अनुस्यूत हुई देखते, तो हमें यह

दीन हीन दशा भोगनी न पड़ती। संन्यासी सात्त्विक अभिमान न रखनेसे प्रथम अवस्थामें त्यागमूलक संन्यासधर्मपालन नहीं कर सकता। ब्रह्मचारी सात्त्विक अभिमान न रक्खे, तो वह ब्रह्मचर्य्य-व्रतका पालन करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। सती स्त्री पातिव्रत्यका अभिमान रक्खे विना कठोर सतीत्व व्रत निबाह नहीं सकती। अतः तेजके प्रस्रवणस्वरूप और उन्नतिके अमोघ औषधस्वरूप सात्त्विक अभिमानका निरन्तर हृदयमें पोषण करना मनुष्यमात्रका कर्त्तव्य है। क्रोध अथवा अहङ्कारको तेज समझ लेना या तेजको अहङ्कार अथवा क्रोध समझना भूल है। दोनोंका अन्तर जान लेना अत्यन्त आवश्यक है।

धैर्य ।

श्री भगवान् मनुने धर्मके दश लक्षणोंमें 'धृति' अर्थात् धैर्यका पहिले उल्लेख किया है। अतः धैर्य ही सब प्रकारकी उन्नतिका मूल और धर्मजीवनका भित्तिस्वरूप है। जिनमें धैर्य्य नहीं, जो सामान्य आपत्तियोंसे घबड़ा उठते हैं, वे क्या नैतिक, क्या व्यावहारिक या क्या आध्यात्मिक, किसी प्रकारके जीवनमें उन्नतिलाभ नहीं कर सकते। त्रिगुणमयी प्रकृतिके तीनों गुणोंके अनन्त तरङ्ग संसारमें सर्वदा मनुष्यके जीवनमें अनन्तप्रकारसे घात-प्रतिघात करते रहते हैं। इन आघातोंको जो धीरतासे सहन कर सकता है, वही विजयी होनेका अधिकारी है। जो सामान्य आघातोंसे अधीर हो जाता है, प्रकृतिमाता उसे कालरूपी सिन्धुके जलमें शीघ्र ही फेंक देती है। घात और प्रतिघातसे युक्त इस संसारमें रहनेका उसे अधिकार ही नहीं है। पृथिवीमें

जो जितने उन्नत हुए हैं, जीवनयुद्धके आघात उन्हें उतने ही अधिक सहन करने पड़े हैं। वरन् यह भी कहा जा सकता है कि, उनमें उच्चता पानेके जो कुछ उपादान विद्यमान थे, वे प्रकृतिके सुखदुःखमेय आघातोंके द्वारा ही जाग्रत, परिपुष्ट और पूर्ण हुए थे। यदि वे उन आघातोंको न सहते, आघातोंके साथ धीरतासे सामना न करना सीखते, तो उनमें कदापि शक्तिका विकाश न होता। जिसके जीवनमें कभी दुःख उत्पन्न नहीं हुआ, जिसे जीवनयुद्धके धर्मक्षेत्रमें कभी पदार्पण करना नहीं पड़ा, जिसने दूधसी निर्मल सेजपर पड़े पड़े ही जीवन काटा है, उसका जीवन व्यर्थ है। वह नामधारी मनुष्य केवल पाषाणके समान है। क्योंकि धैर्य्यके साथ प्रकृतिके सब प्रकारके वेगोंको सहन करना ही मनुष्यत्वके विकाशका एक मात्र लक्षण है। भगवान्के पूर्णावतार श्रीकृष्ण, भगवान् रामचन्द्र, भगवान् शङ्कराचार्य्य, महाराणा प्रताप, जोसेफ मैजिनी, नेपोलियन बोनापार्ट आदिके जीवनोंपर दृष्टि डालनेसे उक्त विधान अक्षर अक्षर सत्य जान पड़ेगा। ये यदि देश, धर्म और जातिके लिये इतना धैर्य्य न दिखा सकते, जातीय जीवनयुद्धके कुरुक्षेत्रमें धीर वीर होकर अटल खड़े न रहते, सामान्य विपत्ति आते ही अधीर होकर रणाङ्गणसे भाग जाते, तो इनके नाम इतिहासोंमें स्वर्णाक्षरोंमें कभी न लिखे जाते। भगवान्की विभूति या अवतार समझ कर आज जैसे संसारके स्त्री पुरुषोंके हृदयमन्दिरोंमें वे पूजे जाते हैं, वैसे पूजे न जाते और इनके द्वारा जातीय या राष्ट्रीय जीवनका अभ्युत्थान भी कदापि नहीं होता। अतः हम यदि संसारमें श्रेष्ठ होना चाहते हैं, संसारसंग्राममें विजयी होना चाहते हैं, भगवान्की शक्ति पाने योग्य होकर देशका कल्याण करना चाहते हैं, तो धर्मके प्रथम लक्षण धृतिको हमें हृदयमें धारण करना चाहिये। हमारेमें यदि धैर्य्य न रहे, तो हममें भगवान्की शक्ति प्रकाशित नहीं

होगी अर्थात् हम भगवान्‌की शक्तिके विकाशका केन्द्र होनेकी योग्यता प्राप्त नहीं कर सकेंगे ।

किन किन विषयोंमें धीर होना चाहिये, इस विषयमें भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय! न तेषु रमते बुधः ॥
मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय! शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥

विषयोंके साथ एकादश इन्द्रियोंके संस्पर्शसे जो कुछ भोगलाभ होता है, वह दुःखकी उत्पत्तिका कारण है। उनका आदि अन्त है। अतः विचारवान् पुरुषोंको इन्द्रियसुखोंमें आसक्त न होना चाहिये। विषयोंके साथ इन्द्रियोंके संस्पर्श लेनेसे ही शीत, उष्ण, सुख, दुःख आदिका उदय होता है। उनका आगम और नाश है। अतः उनमें मुग्ध न होकर उनके वेगको सहन करना चाहिये। इस प्रकारसे इन्द्रियोंके वेगको सहना ही धृतिका लक्षण है। अधीर पुरुष इन्द्रियोंके वेगको सहन नहीं कर सकता। वह छोटी मोटी लोभकी वस्तु सामने आते ही लोभसे अधीर, हा रसनेन्द्रियका संयम करना भूल जाता है और यथेष्ट भोजन कर अन्तमें अनेक रोगोंसे ग्रस्त हो बैठता है। नेत्र, कर्ण या नासिकाको तृप्त करनेवाली वस्तु सामने आते ही उन उन इन्द्रियोंके वशमें आकर धैर्य्य छोड़ उन वस्तुओंका उपभोग करनेसे नाना प्रकारके दुःख भोगता है। इसीसे धैर्यसे संयम करना सीखना चाहिये। जिस विषयकी ओर इन्द्रिय धावित हो, उस विषयसे उसे तत्काल हटा देना चाहिये और यदि इन्द्रियवृत्तिका विषयके साथ संयोग करना ही पड़े, तो भगवद्भाव हृदयमें रखकर करे, लौकिक भाव त्याग दे। संसारमें जीवका जन्म अच्छे बुरे नाना प्रकारके प्राक्तन कर्मोंके अनुसार हुआ करता है।

इसीसे उसके पीछे अच्छा बुरा, उन्नति अवनति, सुख दुःख आदि लगे रहते हैं। चक्रके समान सुख-दुखोंका फेरा चला करता है। संसारमें रोग, शोक, जरा, मृत्युका अभाव नहीं है। अतः धैर्य्यका अभ्यास न कर दुर्बलचित्त मनुष्यकी तरह थोड़ा आनन्द पाते ही हम अट्टहास करें और थोड़े दुःखसे ही पुक्का फाड़कर अधीरतासे रोने लगें, तो संसारमें पागल होकर ही हमें रहना होगा, एक क्षण भी हम सुखसे नहीं बिता सकेंगे। कोई छात्र अधिक परिश्रम करने पर भी 'पास' नहीं हुआ 'फेल' हो गया और उसका सहपाठी थोड़े परिश्रमसे 'पास' हुआ, तो उस 'फेल' हुए छात्रको दुःखसे अधीर नहीं होना चाहिये; किन्तु सोचना चाहिये कि, यत्नमें कोई त्रुटि न होते हुए जब कि, मैं अनुत्तीर्ण हुआ हूं, तब इसमें अवश्य ही प्राक्तनके कुसंस्कार कारण हैं। अधीर न होकर पुनः परिश्रम करने पर प्रारब्धका वेग कम होकर परीक्षायुद्धमें अवश्य ही जयलाभ होगा। घरमें कोई मर गया, उसके साथ स्नेहसम्बन्ध था। उसकी मृत्युका सम्बाद सुनते ही शोक सागरमें डूब जाना, धैर्य्यका बाँध फूट जाना ठीक नहीं। संसारमें जन्म मृत्यु बना हुआ है, मृत्यु क्या है सो भी हम जानते हैं। कर्म समाप्त होते ही जब कि हमें भी इस संसारको छोड़ जाना है, तब जिससे हमारा प्रेम हो, उसे अपनी इच्छानुसार हम जीवित रख सकें, यह कैसे सम्भव हो सकता है? वह जिन कर्मोंके कारण हमारे पास था, वे कर्म समाप्त हो जानेसे सहस्रों प्रयत्न करनेपर भी वह जी नहीं सकेगा, वह अपने कर्मानुसार नूतन अब किसी दूसरे स्थानमें जन्म ग्रहण करेगा। मृत्युके द्वारा स्थूल शरीर-का परिवर्तन होता है, सूक्ष्म शरीर और आत्मा दोनों एक ही भावमें स्थित रहते हैं, उनमें परिवर्तन नहीं होता। धीरतासे ऐसे विचार कर व्यर्थ शोक न करना चाहिये और परलोकगत आत्माकी शान्ति और उन्नतिके लिये श्रीभगवानके चरणोंमें प्रार्थना करनी चाहिये।

ऐसा करनेसे ही मृतव्यक्तिके प्रति यथार्थ बन्धुका कर्त्तव्य पालन होता है। अधीर होकर रोनेसे वास्तवमें कोई कार्य नहीं होता। यदि शरीरमें ज्वर आगया या पेट दुखने लगा और उसे वैद्यने उपोषण करनेको कहा, तो अधीर हो जाना, वैद्यकी बातोंको न मानना, जो पाया जाय वहो खा जाना, पितामाताके रोकनेपर भी क्रोध करना, अभिमान करना या रो देना, पथ्य न करना आदि बातें अच्छी नहीं। ऐसा करनेसे रोग अच्छा न होगा, चिररोगी ही रहना पड़ेगा। अतः धैर्य रखकर विचार करना चाहिये कि, रोग क्यों हुआ? प्रकृतिमें कोई विकार उत्पन्न होनेसे ही रोग होता है। अतः यथेच्छ आहार विहार द्वारा उस प्रकृतिको अधिक विकृत न कर यदि उपवास या पथ्यसेवनसे प्रकृतिको विश्राम दिया जाय, तो क्लान्त प्रकृति आप ही शीघ्र सबल होकर रोग नष्ट कर देगी। धैर्य-से विकृतिके वेगको सहनकर प्रकृतिको सहायता करनी चाहिये। इस प्रकार बचपनसे ही संयमके द्वारा धैर्यका अभ्यास करना सीखनेसे, यौवनमें उन्मादजनक इन्द्रियोंके आक्रमणसे बचा जा सकता है और प्रौढ़ अवस्थामें जीवनयुद्धमें विजय लाभकर संसार-यात्रा अनायास सम्पादन की जा सकती है। ऐसे व्यक्ति ही देश और जातिके यथार्थ नेता होनेकी योग्यता प्राप्त कर सकते हैं। भगवान् उनमें अपनी विभूतिका विकाशकर उनके द्वारा जातीय-जीवन और धर्मजीवनके हितसाधक अनेक महत्कार्य सम्पादन कराते हैं। हम यदि धैर्यगुणका उपार्जन करना सीखें, तो भगवच्छक्तिके विकाशकेन्द्र बनकर स्वयं धन्य होंगे और संसार हमारे द्वारा अनन्त रूपसे लाभवान होगा, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

स्वार्थका क्रमविस्तार।

शास्त्रोंमें मनुष्यकी प्रकृतिको चार भागोंमें विभक्त किया है। यथा—पशु-मनुष्य, राक्षस मनुष्य, असुर-मनुष्य और देवता-मनुष्य। देवभावयुक्त देवता-मनुष्य बनना ही अभीष्ट होना चाहिये। पशुयोनिसे मनुष्ययोनि प्राप्त होती है, इस कारण मनुष्यमें भी अनेक पशुभाव विद्यमान रहते हैं। पशु ज्ञान नहीं समझता, शास्त्र नहीं समझता, विचारके द्वारा सत्यासत्य, कर्तव्या-कर्तव्यका निर्णय करनेकी भी शक्ति नहीं रखता, केवल आहार-निद्रा-भय-मैथुनमें ही दिन विताया करता है। जब मनुष्यका जीवन ऐसे निष्कृष्ट भावोंसे युक्त हो, तव उसे पशुभावग्रस्त या पाशविक मनुष्य कहते हैं। ज्ञानका उदय, बुद्धिकी उन्नति और साधनोंके साथ साथ मनुष्यमेंसे पशुभाव धीरे धीरे नष्ट होकर देवभावका उदय होता है। तव वह देवभावयुक्त देवचरित्र मनुष्य गीतोक्त दैवी सम्पत्तिका अधिकारी होकर अनायास आत्माके पथमें द्रुतवेग-से अग्रसर होता है। उसकी दृष्टि उस समय इन्द्रिय-सुखकी ओरसे हटकर आत्माकी ओर लग जाती है। वे विषयसेवाके आनन्दका अनुभव न कर भगवान्‌की साधनाके ही अनुपम आनन्द-का लाभ करते हैं, किन्तु प्रकाशके साथ जैसा अन्धकारका सम्बन्ध है, वैसा ही ज्ञानके साथ अज्ञानका और देवभाव तथा दैवीसम्पत्ति-का आसुरभाव और आसुरीसम्पत्तिके साथ सम्बन्ध है। इसीसे पशुभाव त्यागकर देवभाव प्राप्त करते समय साधकको आसुरी शक्ति और राक्षसीशक्तिकी नानाविध बाधाओंसे सामना करना पड़ता है। आसुरीशक्ति स्वार्थ, इन्द्रियपरता और अहङ्कारमूलक तथा राक्षसीशक्ति परपीड़न, परनिर्यातन और भीषण तमोभाव-

मूलक होती है। ये शक्तियां सदा मनुष्यके हृदयमें बसकर मनुष्यको आत्माके पथसे विमुख करनेकी चेष्टा करती हैं, कुमति और सुमतिमें भीषण संग्राम उत्पन्नकर जीवके हृदयको टूक टूक कर देती हैं, अनेक प्रकारके प्रलोभन दिखाकर जीवको पुनः इन्द्रियोंकी ओर आकृष्ट करनेकी चेष्टा करती हैं। अतः देवभाव और दैवीसम्पत्ति-शाली साधकको अति सावधानता, विचार और धैर्य्यके साथ असुरभाव तथा राक्षसभावके आक्रमणसे आत्मरक्षा करनी चाहिये। इस प्रकार बचते हुए चलकर मनुष्य धीरे धीरे कर्तव्यपथमें अग्रसर होता हुआ अपने स्वार्थको परमार्थके परमलक्ष्यकी ओर नियोजित कर सकेगा, इसमें सन्देह नहीं।

विचार करनेपर जीव स्वार्थको चार भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। यथा—स्वार्थ, परमार्थ, परोपकार और परमोपकार। अपने ऐहलौकिक सुखसाधनोंके निमित्त अनुष्ठित सब पुरुषार्थ 'स्वार्थ' शब्दवाच्य हैं। यही स्वार्थ पारलौकिक सुखको लक्ष्यकर प्रयुक्त होनेपर परमार्थ कहाता है। इहलोकमें पुण्य, दान, सकाम तपस्या, यज्ञ आदि कर मनुष्य परमार्थ लाभ करता है और इस परमार्थके बलसे मृत्युके पश्चात् परलोकमें वह स्वर्गादि सुख पाता है। इससे निश्चित हुआ कि, स्वार्थ और परमार्थ दोनों व्यक्तिगत अर्थात् अपने सुख और उन्नतिके लिये अनुष्ठित होते हैं, किन्तु जीवहृदय जब उदार होकर दूसरोंके सुखसे सुखी होना सीखता है, दूसरोंके दुःखसे दुःखाभिभूत होकर आत्मबलिदान करनेको तत्पर होता है, तब उसके स्वार्थकी अतिउदारभाव धारण करनेके कारण परोपकार और परमोपकारके होमानलमें आहुति हो जाती है। इसीसे व्यक्तिगत स्वार्थ और परमार्थकी अपेक्षा समष्टि जीवकल्याणकर परोपकार और परमोपकारको इतनी अधिक प्रतिष्ठा है। स्वार्थ परमार्थ, यज्ञके अन्तर्गत हैं, किन्तु परोपकार और परमोपकार

महायज्ञ कहे गये हैं। केवल दैवीसम्पत्तिके अधिकारी देवता मनुष्योंमें हीं परोपकार और परमोपकारकी उदार चरितार्थता दृष्टिगोचर होती है। शास्त्रोंमें लिखा है—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

अनुदार लघुचित्तवाले मनुष्य ही अपना, पराया, आत्मीय, अनात्मीय आदि भेदोंके भाव हृदयमें रखते हैं। उदारचरित पुरुष समस्त संसारके लोगोंको ही अपने आत्मीय समझकर उनके लिये आत्मोत्सर्ग कर देते हैं। यह आत्मोत्सर्ग जब केवल समष्टि जीवके पेहलौकिक सुखके लिये किया जाता है तब उसे परोपकार और जब पारलौकिक सुख तथा आध्यात्मिक उन्नतिके सम्पादनके लिये अनुष्ठित हो, तब उसे परमोपकार कहते हैं। इस प्रकार जीवके स्वार्थको उदारसे उदारतर करते हुए स्वार्थ, परमार्थ, परोपकार और परमोपकार ऐसे क्रमोन्नत चार भागोंमें विभक्त किया गया है। हम मानवजीवनमें परोपकार और परमोपकारका महत्त्व ज्यों ज्यों समझते जायंगे, त्यों त्यों हमारा स्वार्थ-भाव सङ्कुचित होता जायगा, पशुभाव-सुलभ इन्द्रियपरायणतादि विगलित होती जायगी और आनन्दमय उदारतासे देवभावका पूर्ण विकाश होकर जीवन सार्थक होगा। भारतमाता हमारे जैसी पवित्र सन्तानको अपने अङ्कमें धारण कर आनन्दलाभ करेगी। हमें अतः भारतजननीकी सेवामें जीवनोत्सर्गकर चिरधन्य होना चाहिये।

पितामह भीष्मदेवका उपदेश ।

धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रके समराङ्गणमें उत्तरायणगतिकी प्रतीक्षा करते हुए आबाल ब्रह्मचारी परमतेजस्वी परमज्ञानी पितामह भीष्मदेव जिस समय शरशय्यापर सो गये, उस समय धर्म्मराज युधिष्ठिर उनके चरणकमलोंके निकट प्रतिदिन बैठकर धार्मिक विषयोंकी जिज्ञासा करते थे। एक दिन उन्होंने पूछा,— महाराज! जीवको स्वर्ग किस कारण होता है और नरक किस कारण? राजधर्मको सुनते हुए एक दिन यह भी पूछा कि, मनुष्य इस नरकप्राप्तिरूप विपत्तिसे कैसे छुटकारा पा सकता है? प्रश्नोत्तर-रूपसे भीष्मदेवने जिन अमूल्य उपदेशोंको सुनाकर युधिष्ठिरको कृतार्थ किया, उन अपूर्व नीतिपूर्ण उपदेशोंको क्रमशः नीचे उद्धृत करते हैं। प्रथम उपदेश महाभारतके अनुशासनपर्वमें और द्वितीय उपदेश शान्तिपर्वान्तर्गत राजधर्मपर्वाध्यायमें संस्कृत भाषामें वर्णित हुआ है। उसीका यह अनुवाद है।

नरक साधन ।

जो गुरुके हितसाधन या भयनिवारणको छोड़ अन्य किसी कारणसे मिथ्या बोलता है, जो परस्त्रीहरण, संसर्ग या तद्विषयक दूतकार्य्य करता है और परधननाश तथा परदोषोंका बखान करता है, जो जलाशय, सेतु और गृहादि भग्न करता है और बालिका, वृद्ध या अनाथा स्त्रीको ठगता है, जो वृत्तिच्छेद, गृहच्छेद,

मित्रच्छेद या आशाच्छेद करता है, जो परदोषदर्शी, सन्धिनाशकारी, परभाग्योपजीवी, मित्रके प्रति अकृतज्ञ, वेदविरोधी, साधुविद्वेषी, नियमनाशकारी, पापाचरणके कारण पतित, विरुद्धव्यवहाररत, अनुचितवृत्तिजीवी, द्यूतक्रीड़ापरायण, कदाचार और प्राणिहिंसामें प्रवृत्त होता है, जो अग्नि, स्त्री पोष्यवर्ग और अतिथिको भोज्य वस्तु न देकर स्वयं खाता है, जो देवकार्य्य और पितृकार्य्यका अनुष्ठान नहीं करता, जो वेदविक्रय और वेदकी अवज्ञा करता है, जो चारों वर्णोंसे बहिर्भूत और वेदाचारविहीन होकर दुष्क्रियाओंसे जीविका निर्वाह करनेमें प्रवृत्त होता है, जो गो, ब्राह्मण और कन्याओंके कार्य्यमें विघ्न उत्पन्न करता है, जो पत्थर, काँटे और खड्डोंसे पथ रुद्ध करता है, जो बिना अपराधके पुरोहित, सेवक और भक्तोंका त्याग करता है, जो पशुओंको निर्दयतासे बांध रखता है, जो राजा प्रजापालनसे पराङ्मुख होकर बलपूर्वक कर वसूल करता है और ऐश्वर्य्यशाली होकर भी प्रजाको धन नहीं देता, जो काम बन जाने-पर क्षमाशील, जितेन्द्रिय, विद्वान्, चिरसहचर सेवकको छोड़ देता है, जो बालक, वृद्ध और सेवकोंको न खिलाकर स्वयं भोजन करता है—ये सभी नरकमें जायँगे ।

स्वर्ग साधन ।

देवकार्य्यमें ब्राह्मणकी अवमानना करनेसे पुत्र और पशुसमूह नष्ट होते हैं, अतः प्राणान्त होने पर भी जो ब्राह्मणकी अवमानना नहीं करते; जो दान, तप और सत्य भाषण कर स्वधर्मपालन करते हैं, जो गुरुसेवा और तपस्याके द्वारा विद्यालाभ कर प्रतिग्रहसे परा-ङ्मुख रहते हैं, जो लोगोंको भय, पाप, विघ्न, दारिद्र्य और व्या-

धिसे बचाते हैं, जो क्षमावान्, धीरप्रकृति, धर्मोत्साही और सदाचारपरायण हैं, जो मद्य, मांस और परस्त्रीमें कभी आसक्त नहीं होते, जो कुल, आश्रम और ग्राम नगरादि स्थापन करते हैं, जो अन्न, वस्त्र, अलंकार और धन आदि द्वारा दूसरोंके विवाहादि कार्य्य सम्पन्न करते हैं, जो हिंसाशून्य, सहनशील और सबको आश्रय देते हैं जो मातापिताकी सेवा कर भाइयोंके प्रति स्नेह करते हैं, जो अत्यन्त धनी, बली और युवक होकर भी धीर और जितेन्द्रिय हैं, जो अपराधीपर भी प्रेम करते हैं, जो स्वयं मृदु और मृदुवत्सल हैं, जो लोकसेवामें तत्पर रहते हैं, जो असंख्य लोगोंके अन्नदाता, धनदाता और रक्षक हैं, जो याचकोंको गौ, अश्व, सुवर्ण, यान, वाहन, वस्त्र, विवाहोचित अलंकार, दास दासी आदि देते हैं, जो गोशाला, धर्मशाला, उद्यान, कूप, सभा, जलाशय और प्राचीर बनाते हैं, जो खेत और गृह दान करते हैं, जो स्वयं बीज, रस और धान्यादि उत्पन्न कर सत्पात्रमें दान करते हैं, जो चाहे उत्कृष्ट या निकृष्ट, किसी कुलमें उत्पन्न होकर पुत्रवान्, शतायु, दयावान् और शान्त स्वभावके होते हैं, ये सभी स्वर्गमें गमन करते हैं।

विपदुद्धारके उपाय।

जो ब्राह्मण शास्त्रोक्त आश्रमधर्मका पालन करते हैं, जो अहंकार त्याग, लोभादि निकृष्ट वृत्तियोंका संयम और कटुवाक्य सहन करते हैं, किसीके हिंसा करनेपर भी प्रतिहिंसा नहीं करते, धनयाचना न कर दान और अतिथिसत्कारमें परायण रहते हैं, असूयाशून्य, स्वाध्यायसम्पन्न और धर्मपरायण होकर बहुत यत्नसे मातापिताकी सेवा करते हैं और दिनमें नहीं सोते, वे दुस्तर विपत्तिसे छुटकारा

पानेमें समर्थ होते हैं। जो राजा काया, मन और वाणीसे कभी पापाचरण नहीं करते, जो सभीको अपराधानुसार दण्ड देते हैं, जो रजोगुण और लोभके वशीभूत होकर अर्थसंग्रह नहीं करते, जो पर-स्त्रीगमन नहीं करते, मृत्युभयको त्यागकर जो धर्मयुद्धमें जयलाभकी चेष्टा करते हैं, प्राणसंदेह होने पर भी जो झूठ नहीं बोलते, जो मनुष्योंके आदर्शस्वरूप होते हैं, जिनका कोई कार्य्य अविश्वासके योग्य नहीं है, जिनके धनका सत्कार्यमें ही व्यय होता है, वे दुस्तर विपत्तिका अतिक्रम कर सकते हैं। जो अनध्यायके दिन अध्ययन नहीं करते, बाल्यावस्थामें ही ब्रह्मचर्य धारण कर तपोनुष्ठान, वेदाध्ययन और अन्यान्य विद्याओंका अभ्यास करते हैं, जो रजोगुण और तमोगुणके वशीभूत न होकर सत्त्वगुणका ही आश्रय करते हैं, जिनके द्वारा किसीको प्राणभय न हुआ हो, जो किसीसे नहीं डरते और आत्मवत् सबको समझते हैं, जो पराई स्त्रीपर दृष्टि डालनेसे क्रुद्ध होते और कुत्सित आचारमें प्रवृत्त नहीं होते, जो सब देवताओंको नमस्कार करते हैं और ईर्ष्या-द्वेष छोड़कर श्रद्धासे सब धर्मोंका श्रवण करते हैं, जो अपने मनका विचार न कर माननीय व्यक्तिका नमस्कारपूर्वक सम्मान करते हैं, जो संतानेच्छु होकर प्रत्येक पितृतिथिमें श्राद्धक्रिया सम्पादन करते हैं और क्रोध परित्याग, दूसरोंके क्रोधका शमन तथा आजीवन मद्यमांसादिके प्रति अनादर दिखाते हैं, जो प्राणरक्षाके लिये भोजन और सत्य बोलनेके लिये ही वाणीका उपयोग करते हैं, वे ही दुर्गम विपत्ति-समूहोंसे उद्धार लाभ करनेमें समर्थ होते हैं। भगवान् नारायण विभु परमात्मा स्वेच्छासे ही शरीरमें जैसा चर्म, वैसे ही समस्त संसारमें व्याप्त हो रहे हैं। जो जगत्‌का कल्याण साधनके लिये सदा सचेष्ट हैं, जो भक्तिभावसे सब भूतोंके ईश्वर, सब जगत्‌के सृष्टिकर्ता, अक्षय्य, अव्यय, पुरुषोत्तम, भगवान्‌का आश्रय करते हैं,

वे ही दुर्गम संसार-सिन्धु और समस्त दुस्तर-विपत्तियोंको तर कर पार हो जाते हैं। इस प्रकार परमज्ञानी पितामह भीष्मदेवने संसारके कल्याणके लिये धर्मराज युधिष्ठिरको निमित्त कर सुधामयी नीतियोंका उपदेश किया है। इन उपदेशोंके अनुसार सभीको चलना चाहिये। इससे नरकका भय निवृत्त होगा, दुर्गम विषयोंका निवारण होगा और अन्तमें अनन्त सुखका धाम स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त होगा।

महात्मा विदुरके उपदेश।

महाभारतके उद्योगपर्वमें धृतराष्ट्रके प्रति परम धार्मिक विदुरके उपदेशके मिषसे अनेक नीतिकथाओंका वर्णन किया गया है। यह समस्त नीति-विषय प्रजागर पर्व नामसे प्रसिद्ध है। उसमेंसे कुछ कुछ नीतिका विषय वर्णित हुआ है।*

जिनको आत्मज्ञान, कर्म, तितिक्षा और धर्मनिष्ठासे धन नहीं डिगा सकता, वेही पण्डित हैं। जो श्रद्धालु होकर प्रशस्त कार्य्योंका अनुष्ठान और निन्दित कर्मोंका परित्याग करते हैं, वे ही पण्डित हैं। जो क्रोध, हर्ष, दर्प, लज्जा, अनुग्रता और अभिमानके वशीभूत होकर लक्ष्यभ्रष्ट नहीं होते, वे ही पण्डित हैं। शीत, ग्रीष्म, भय, अनुराग, समृद्धि, असमृद्धि आदि जिनके कार्य्योंमें विघ्न नहीं कर सकते, वे ही पण्डित हैं। जिनके कार्य और विचार सफल न होने पर भी शत्रु नहीं जान सकते, वे ही

---

* बालकोंको कण्ठस्थ करनेके लिये स्थान स्थानपर मूल संस्कृत श्लोक भी उद्धृत कर दिये गये हैं।

पण्डित हैं। जो अप्राप्य वस्तुको पानेकी इच्छा नहीं करते, खोयी हुई वस्तुके लिये शोक सन्ताप नहीं करते, और आपत्कालमें निडर धीर रहते हैं, वे ही पण्डित हैं। जो पहिले कार्यका निश्चय कर फिर उनके करनेमें प्रवृत्त होते हैं, कार्यसमाप्ति पर्यन्त जो शिथिल नहीं होते और जीवनकी एक घड़ी भी व्यर्थ नहीं खोते, वे पण्डित हैं। जो सम्मानसे प्रसन्न और अपमानसे रुष्ट नहीं होते और गंभीर जलाशयकी तरह अविचलित और अक्षुब्ध रहते हैं, वे ही पण्डित हैं। जिनका अध्ययन प्रज्ञाके अनुसार और प्रज्ञा शास्त्रानुसार है, जो कभी मानी पुरुषोंका मानभङ्ग नहीं करते और विपुल धन, विद्या और ऐश्वर्य प्राप्त कर अनुद्धत चित्तसे समय बिताते हैं, वे ही पण्डित हैं। इस प्रकार विदुरनीतिमें पण्डितोंके लक्षणोंका वर्णन किया गया है। महात्मा विदुरने पण्डितोंकी तरह मूढ़ोंके लक्षण भी बताये हैं। जो व्यक्ति अध्ययन न कर विद्याका अभिमान करते हैं और दरिद्र होकर धनगर्व करते हैं और कुकार्यके द्वारा धनार्जनकी चेष्टा करते हैं, वे ही मूढ़ हैं। जो शत्रुको मित्र समझते हैं, मित्रके प्रति द्वेष और हिंसा करते हैं और असत् कार्यमें व्यापृत होते हैं, वे ही मूढ़ हैं। जो विना बुलाये जाते, बिना पूछे बोलते और अविश्वास पर विश्वास करते हैं, वे ही मूढ़ हैं। जो स्वयं दोषी होकर दूसरों पर दोष मढ़ते हैं और शक्तिशाली न होते हुए निरन्तर क्रोध किया करते हैं, वे ही मूढ़ हैं। ये सब विदुरकथित मूढ़ोंके लक्षण हैं।

एकः स्वादु न भुञ्जीत एकश्चार्थान्न चिन्तयेत्।
एको न गच्छेदध्वानं नैकः सुप्तेषु जागृयात्॥

अकेले मिष्टान्न खाना, अकेले धनकी चिन्ता करना, अकेले भटकना और सब सोये हुए लोगोंमें अकेले जागते रहना उचित नहीं है।

एकः क्षमावतां दोषो द्वितीयो नोपपद्यते।
यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः॥
सोऽस्य दोषो न मन्तव्यः क्षमा हि परमं बलम्।
क्षमा गुणो ह्यशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा॥
क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया किं न साध्यते।
शान्तिखड्गः करे यस्य किं करिष्यति दुर्जनः॥
अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति।
अक्षमावान्परं दोषैरात्मानञ्चापि योजयेत्॥
एको धर्मः परं श्रेयः क्षमैका शान्तिरुत्तमा।
विद्यैका परमा दृष्टिरहिंसैका सुखावहा॥

क्षमावान् पुरुषोंमें एक मात्र दोष यह होता है कि, वे सबके प्रति दया दिखाकर लोगोंमें असमर्थ समझे जाते हैं। परन्तु यह उनका दोष नहीं समझना चाहिये। क्योंकि क्षमा मनुष्यका परम धन है। क्षमा असमर्थोंका गुण और समर्थोंका भूषण है। इस जगत्में क्षमा अद्वितीय वशीकरण है, क्षमाके द्वारा सब कार्य सम्पन्न होते हैं। जिसके हाथमें क्षमाका शस्त्र है, दुर्जन उसका क्या कर सकता है? जहां घास नहीं, वहां अग्नि गिरनेसे वह आप ही शान्त हो जाती है, किन्तु क्षमाहीन मनुष्य स्वयं सब दोषोंका पात्र बनता है। धर्म ही एकमात्र श्रेयः (कल्याण) है, क्षमा ही एकमात्र शान्ति है, विद्या ही एकमात्र दृष्टि और अहिंसा ही एकमात्र सुखका निदान है।

द्वे कर्मणी नरः कुर्वन्नस्मिन् लोके विरोचते।
अब्रुवन् परुषं किंचिदसतो नार्जयंस्तथा॥
द्वाविमावप्सु निक्षेप्यौ कण्ठे बद्ध्वा महाशिलाम्।
धनवन्तमदातारं दरिद्रञ्चातपस्विनम्॥
द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्य्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड्योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः॥

असज्जनकी पूजा और कटुबचनका त्याग करनेसे इस जगत्में मनुष्य यशोलाभ कर सकता है। जो धनी होकर दान नहीं करते और दरिद्र होकर तपस्या नहीं करते, उन दोनोंको गलेमें बड़ा पत्थर बांधकर जलमें डुबा देना ही उचित है। परिव्राजक योगी और संग्राममें सम्मुख निहत योधा, ये दोनों सूर्य्यमण्डल भेदन कर उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

काम, क्रोध और लोभ ये तीन नरकके द्वारस्वरूप और आत्माको नष्ट करने वाले हैं। इस कारण इनका त्याग देना चाहिये।

पंचाग्नयो मनुष्येण परिचर्य्याः प्रयत्नतः।
पिता माताग्निरात्मा च गुरुश्च भरतर्षभ॥
पंचैव पूजयँल्लोके यशः प्राप्नोति केवलम्।
देवान् पितॄन् मनुष्यांश्च भिक्षूनतिथिपञ्चमान्॥
पञ्चेन्द्रियस्य मर्त्यस्य छिद्रञ्चेदेकमिन्द्रियम्।
ततोऽस्य स्रवति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम्॥

अत्यन्त यत्नसे पिता, माता, अग्नि, आत्मा और गुरु इन पांच प्रकारके तेजोंकी सेवा करनी चाहिये। देव, पितृ, मनुष्य, भिक्षुक और अतिथि इन पांचोंको पूजा करनेसे इस पृथ्वीमें यशोलाभ होता हैं। जिस प्रकार मशकमेंसे एक छेद होनेसे ही सब जल बह जाता है, उसी प्रकार मनुष्यकी पांच इन्द्रियोंमेंसे कोई एक भी स्खलित हो तो, समस्त ज्ञान नष्ट हो जाता है।

षड्दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता॥
षडेव तु गुणाः पुंसा न हातव्या कदाचन।

सत्यं ज्ञानमनालस्यमनसूया क्षमा धृतिः ॥
ईर्ष्यी घृणी त्वसन्तुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः ।
परभाग्योपजीवी च षड़ेते नित्यदुःखिताः ॥

जो ऐश्वर्य चाहते हैं, उन्हें निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य और दीर्घसूत्रता इन छः दोषोंको त्याग देना चाहिये। सत्य, ज्ञान, अनालस्य, अनसूया, क्षमा और धृति इन छः गुणोंका पुरुषमात्रको त्याग न करना चाहिये। ईर्ष्या करनेवाला, घृणा करनेवाला, असन्तुष्ट, क्रोधी, सदा शङ्कित और दूसरोंके भाग्यके भरोसे जीनेवाला, ये छः प्रकारके लोग संसारमें सदा दुःख पाते हैं।

प्राप्यापदं न व्यथते कदाचित्
उद्योगमन्विच्छति चाप्रमत्तः ।
दुःखञ्च काले सहते महात्मा
धुरन्धरस्तस्य जिताः सपत्नाः ॥

जो आपत्कालमें दुःखित नहीं होता है, उन्मत्त न होकर उद्योग करता है, दुःखके समयमें दुःख भी सहता है, वही यथार्थ धुरन्धर है और सब शत्रुओंको हरा सकता है।

न स्वे सुखे कुरुते वै प्रहर्षं
नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः ।
दत्वा न पश्चात् कुरुतेऽनुताप
स कथ्यते सत्पुरुषार्थशीलः ॥

जो अपने सुखमें हर्ष प्रकाशित नहीं करता और दूसरोंके दुःखको देख भी प्रसन्न नहीं होता, दान करनेके पश्चात् अनुताप नहीं करता, वही सत्पुरुषार्थशील कहलाता है।

दम्भं मोहं मत्सरं पापकृत्यम्
राजद्विष्टं पैशुनं पूगवैरम् ।
मत्तोन्मत्तैर्दुर्जनैश्चापि वादं

यः प्रज्ञावान् वर्जयेत्स प्रधानः॥

दमं शौचं दैवतं मङ्गलानि
प्रायश्चित्तान्विविधान् लोकवादान्।
एतानि यः कुरुते नैत्यिकानि
तस्योत्थानं देवता धारयन्ति॥

समैर्विवाहं कुरुते न हीनैः
समैः सख्यं व्यवहारं कथाश्च।
गुणैर्विशिष्टांश्च पुरो दधाति
विपश्चितस्तस्य नयाः सुनीताः॥

मितं भुङ्क्ते संविभज्याश्रितेभ्यो
मितं स्वपित्यमितं कर्म कृत्वा।
ददात्यमित्रेष्वपि याचितः स्वं
तमात्मवन्तं प्रजहत्यनर्थः॥

जो मनस्वी दम्भ, मोह, मात्सर्य, पापकृत्य, रागद्वेष, खलता, बहुतोंके साथ शत्रुता और मत्त, उन्मत्त एवं दुर्जनोंके साथ वाद-विवाद करना छोड़ देते हैं, वे ही प्रधान प्रज्ञावान् हैं। जो दम. शौच. देवार्चन, विविध मङ्गलकार्य और प्रायश्चित्तादि नित्य कार्यों-का अनुष्ठान करते हैं, देवगण उनके अभ्युदयमें सदा प्रवृत्त रहते हैं। जो अपनी बराबरीवालोंसे वैवाहिक सम्बन्ध, मित्रता, भाषण और व्यवहार करते हैं और पण्डितोंके अनुवर्ती होते हैं, वे ही यथार्थ नीतिज्ञ हैं। जो आश्रितोंको यथायोग्य बांटकर फिर स्वयं परिमित भोजन करते हैं, अधिक कार्य कर थोड़ा सोते हैं और प्रार्थना करनेपर शत्रुको भी धन दान करते हैं, वे महात्मा कभी अनर्थके भाजन नहीं बनते।

यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः।
तद्वदर्थान् मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया॥

पुष्पं पुष्पं विचिन्वीत मूलच्छेदं न कारयेत् ।
मालाकार इवारामे न यथाङ्गारकारकः ॥
किं नु मे स्यादिदं कृत्वा किं नु वा स्यादकुर्वतः ।
इति कार्याणि सञ्चिन्त्य कुर्याद्वा पुरुषो न वा ॥

भ्रमर जिस प्रकार पुष्पोंकी रक्षा करता हुआ मधु संग्रह करता है, उसी प्रकार हिंसा न करते हुए मनुष्योंसे अर्थ ग्रहण करना चाहिये। माली विविध वृक्षोंके फूल तोड़ लेता है, किन्तु वृक्षोंके मूल नहीं काटता। अतः मालीका अनुकरण करना चाहिये, जङ्गल जलानेवालेका नहीं। यह करनेसे क्या होगा और न करनेसे क्या होगा, इसका विचार कर कार्योंको करना या त्यागना चाहिये।

सुपुष्पितः स्यादफलः फलितः स्याद्दुरारुहः ।
अपक्वः पक्वसङ्काशो न च शीर्येत कर्हिचित् ॥
चक्षुषा मनसा वाचा कर्मणा च चतुर्विधम् ।
प्रसादयति यो लोकं तं लोकोऽनुप्रसीदति ॥
यस्मात्त्रस्यन्ति भूतानि मृगव्याधान्मृगा इव ।
सागरान्तामपि महीं लब्ध्वा स परिहीयते ॥

फूलकर भी फल न दे, फलित होकर भी जिसपर मनुष्य चढ़ नहीं सके, कच्चा होनेपर भी पकेकी तरह देख पड़े, वह किसी समयमें भी काटा नहीं जाता। जो चक्षु, मन, वाणी और कर्मोंसे सबको प्रसन्न करता है, सभी लोग उसे चाहते हैं। व्याधोंसे जैसे मृग डरते हैं, वैसे प्राणिमात्र जिससे डरते हैं वह समुद्रपर्यन्तकी भूमि प्राप्त करनेपर भी रक्षा नहीं करता।

गन्धेन गावः पश्यन्ति वेदैः पश्यन्ति ब्राह्मणाः ।
चारैः पश्यन्ति राजानः चक्षुर्भ्यामितरे जनाः ॥
सत्येन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते ।

मृगया रक्ष्यते रूपं कुलं वित्तेन रक्ष्यते ॥
मानेन रक्ष्यते धान्यमश्वान् रक्षत्यनुक्रमः।
अभीक्ष्णदर्शनं गाश्च स्त्रियो रक्ष्या कुचैलतः ॥

गौ गन्ध द्वारा, ब्राह्मण वेदोंके द्वारा, राजा चारों द्वारा और सामान्य लोग चर्मचक्षु द्वारा देखते हैं। धर्म सत्यके द्वारा, विद्या अभ्यासके द्वारा, रूप अङ्गमार्जन द्वारा, कुल धन द्वारा, धान्य परिमाण द्वारा, अश्व व्यायाम द्वारा, धेनु तत्त्वावधान द्वारा और स्त्रियां अपवित्र वस्त्रों द्वारा रक्षित होती हैं।

विद्यामदो धनमदस्तृतीयोऽभिजनो मदः।
मदा एतेऽवलिप्तानामेत एव सतां दमाः ॥
शीलं प्रधानं पुरुषे तद् यस्येह प्रणश्यति।
न तस्य जीवितेनार्थो न धनेन न बन्धुभिः ॥

विद्या, धन और कुटुम्बी ये तीनों असज्जनोंका मद बढ़ानेवाले और सज्जनोंके दमकी वृद्धि करनेवाले हैं। इस संसारमें मनुष्यका प्रधान गुण शील है। वही जिसका नष्ट हो गया हो उसका जीवन, धन और बन्धु सभी व्यर्थ हो जाते हैं।

आढ्यानां मांसपरमं मध्यानां गोरसोत्तमम्।
तैलोत्तमं दरिद्राणां भोजनं भरतर्षभ ॥
सम्पन्नतरमेवान्नं दरिद्रा भुञ्जते सदा ॥
क्षुत् स्वादुतां जनयति सा चाढ्येषु सुदुर्लभा ॥
प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते।
जीर्यन्त्यपि तु काष्ठानि दरिद्राणां महीपते ॥

धनी लोगोंका भोजन मांसप्रधान, मध्यवित्त लोगोंका गोरस-प्रधान और दरिद्रोंका तैलप्रधान होता है। दरिद्र ही सुस्वादु खाद्य खा सकते हैं, क्योंकि उन्हें क्षुधा होती है और क्षुधा ही खाद्य वस्तुमें स्वाद उत्पन्न करती है। क्षुधाके अभावसे धनी लोगोंके

लिये स्वाद दुर्लभ है। धनी लोगोंमें भोजनशक्ति बहुत ही कम होती है, दरिद्र तो लकड़ी भी चबा कर पचा डालते हैं।

अवृत्तिर्भयमन्त्यानां मध्यानां मरणाद्भयम्।
उत्तमानान्तु मर्त्यानामपमानात्परं भयम्॥
ऐश्वर्यमदपापिष्ठा मदाः पानमदादयः।
ऐश्वर्य्यमदमत्तो हि नापतित्वा विबुद्ध्यते॥
हिंसा बलमसाधूनां राज्ञां दण्डविधिर्बलम्।
शुश्रुषा तु बलं स्त्रीणां क्षमा गुणवतां बलम्॥

अधम लोग जीविका न रहनेसे डरते हैं, मध्यम लोग मृत्युसे डरते हैं और उत्तम लोग अपमानसे अत्यन्त डरते हैं। ऐश्वर्यमद पानमदसे भी निन्दनीय है, क्योंकि ऐश्वर्यमदमत्त व्यक्तिका पतन न होनेसे चैतन्योदय नहीं होता। असाधुओंका बल हिंसा, राजाका बल दण्डविधि, स्त्रीका बल सेवा और गुणवानका बल क्षमा है।

यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम्।
बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽवाचीनानि पश्यति॥
बुद्धौ कलुषभूतायां विनाशे प्रत्युपस्थिते।
अनये नयसङ्काशो हृदयान्नापसर्पति॥

देवता जिसे गिरानेकी इच्छा करते हैं, उसकी बुद्धि पहले हरण कर लेते हैं। तब वह निन्दित कर्म ही करने लगता है। बुद्धिनाश होकर विनाशकाल निकट आनेपर अन्यायको ही मनुष्य न्याय समझने लगता है और यह ज्ञान उसके हृदयसे दूर नहीं होता।

सर्वतीर्थेषु वा स्नानं सर्वभूतेषु चार्जवम्।
उभे त्वेते समे स्यातामार्जवं वा विशिष्यते॥
यावत्कीर्तिर्मनुष्यस्य पुण्या लोकेषु गीयते।
तावत्स पुरुषव्याघ्रः स्वर्गलोके महीयते॥

सब तीर्थोंमें स्नान और सब भूतोंके साथ सरल व्यवहार ये दोनों समान होने पर भी सरलता दोनोंमें उत्कृष्टतर है। पृथिवीमें जबतक मनुष्यकी कीर्ति रहेगी, तबतक वह स्वर्गमें पूजित होता है।

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्।
तन्तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संयोजयन्ति तम्॥
श्रीर्मङ्गलात्प्रभवति प्रागल्भ्यात्सम्प्रवर्द्धते।
दाक्ष्यात्तु कुरुते मूलं संयमात्प्रतितिष्ठति॥

देवता दण्ड ग्रहण कर पशुपालोंके समान जीवोंकी रक्षा नहीं करते, किन्तु जिनकी वे रक्षा करना चाहते हैं, उन्हें सुबुद्धि प्रदान करते हैं। सम्पत्ति मङ्गलसे उत्पन्न होती है और प्रगल्भतासे वह बढ़ती है, कौशलसे दृढ़ होती है और संयमसे चिरस्थायी होती है।

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः
न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति
न तत्सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम्॥

जहाँ वृद्धोंका समागम नहीं, वह सभा नहीं; जो धर्मका उपदेश न करें, वे वृद्ध नहीं; जिसमें सत्य न हो, वह धर्म नहीं और जो छलसे भरा हो, वह सत्य नहीं है।

पापं कुर्वन् पापकीर्तिः पापमेवाश्नुते फलम्।
पुण्यं कुर्वन् पुण्यकीर्तिः पुण्यमत्यन्तमश्नुते॥
तस्मात्पापं न कुर्वीत पुरुषः संशितव्रतः।
पापं प्रज्ञां नाशयति क्रियमाणं पुनः पुनः॥
नष्टप्रज्ञः पापमेव नित्यमारभते नरः।
पुण्यं प्रज्ञां वर्द्धयते क्रियमाणं पुनः पुनः॥

पापात्मा पाप करके पापके फलोंका और पुण्यात्मा पुण्य करके पुण्यके फलोंका भोग करता है। अतः पाप करना उचित नहीं है। पुनः पुनः पाप करनेसे प्रज्ञाका नाश होता है। नष्टप्रज्ञ व्यक्ति सदा पाप ही करता रहता है और पुनः पुनः पुण्य करनेसे प्रज्ञाकी वृद्धि होती है।

दिवसेनैव तत् कुर्याद्येन रात्रौ सुखं वसेत्।
अष्टमासेन तत् कुर्याद्येन वर्षा सुखं वसेत्॥
पूर्वे वयसि तत् कुर्याद्येन वृद्धः सुखं वसेत्।
यावज्जीवन्तु तत् कुर्याद्येन प्रेत्य सुखं वसेत्॥

दिनमें ऐसा कार्य्य करे, जिससे रात सुखसे बीते, आठ मास ऐसा कार्य्य करे, जिससे वर्षाकाल सुखसे बीते, पूर्व वयसमें ऐसा कार्य्य करे, जिससे वृद्धावस्था सुखसे बीते और यावज्जीवन ऐसा कार्य्य करे, जिससे मृत्युके पश्चात् परलोकमें सुख हो।

गुरुरात्मवतां शास्ता शास्ता राजा दुरात्मनाम्।
अथ प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः॥
बुद्धिश्रेष्ठानि कर्माणि बाहुमध्यानि भारत।
तानि जङ्घाजघन्यानि भारप्रत्यवयानि च।

जिन्हें आत्मा सम्बन्धी विचार है, उनका शासक गुरु, दुष्टोंका शासक राजा और छिपे पाप करनेवालोंके शासक यमराज हैं। जो कर्म बुद्धिकी सहायतासे किये जायँ, वे उत्तम; जो बाहुओंकी सहायतासे किये जायँ, वे मध्यम; जो जङ्घाओंकी सहायतासे किये जायँ, वे अधम और जिन कार्योंका भार स्वयं उठाना पड़े वे अधमाधम हैं।

सन्तापाद्भ्रश्यते रूपं सन्तापाद्भ्रश्यते बलम्।
सन्तापाद्भ्रश्यते ज्ञानं सन्तापाद्व्याधिमृच्छति।
बुद्ध्या भयं प्रणुदति तपसा विन्दते महत्।
गुरुशुश्रूषया ज्ञानं शान्तिं योगेन विन्दति।

अवध्या ब्राह्मणा गावो ज्ञातयः शिशवः स्त्रियः ।
येषाञ्चान्नानि भुञ्जीत ये चास्युः शरणागताः ॥

सन्ताप करनेसे रूप, बल और ज्ञान नष्ट होकर व्याधि प्राप्त होती है। अतः मनमें सन्ताप करना उचित नहीं। बुद्धिकी सहायतासे भय नष्ट होता है, तपोबलसे श्रेष्ठ वस्तुका लाभ होता है, गुरुसेवासे ज्ञान लाभ होता है और योगसे शान्तिकी प्राप्ति होती है। गौ, ब्राह्मण, ज्ञाति, बान्धव, शिशु, स्त्रियाँ, अन्नदाता और शरणागत ये सब अवध्य (मारने योग्य नहीं) हैं।

सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥

निरन्तर प्रिय बोलनेवाले लोग बहुत मिलते हैं, किन्तु अप्रिय होनेपर भी हितकर वचन बोलने और सुननेवाले लोग दुर्लभ होते हैं।

त्यजेत् कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥

कुलकी रक्षाके लिये एक व्यक्तिको, ग्रामरक्षाके लिये कुलको, नगररक्षाके लिये ग्रामको और आत्माके लिये पृथिवीको त्याग देना चाहिये।

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ।
विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ॥

अविश्वस्तके प्रति विश्वास न करे और विश्वस्तके प्रति भी अति विश्वास न करे; क्योंकि विश्वाससे ही भयका कारण उत्पन्न होकर वह मूलको भी नष्ट कर देता है।

दैवतेषु प्रयत्नेन राजसु ब्राह्मणेषु च ।
नियन्तव्यः सदा क्रोधो वृद्धबालातुरेषु च ॥
निरर्थं कलहं प्राज्ञो वर्जयेन्मूढसेवितम् ।
कीर्तिञ्च लभते लोके न चानर्थेन युज्यते ॥

न च रात्रौ सुखं शेते ससर्प इव वेश्मनि।
यः कोपयति निर्दोषं सदोषोऽभ्यन्तरं जनम्॥

देवता, राजा, ब्राह्मण, बालक और रोगी इनके प्रति क्रोध होने पर भी संयम करना चाहिये। मूढ़लोग जिस कलहमें रत रहते हैं, ऐसा व्यर्थ कलह बुद्धिमान् लोगोंको न करना चाहियें। इससे किसी प्रकारके अनर्थ उत्पन्न न होकर यशोलाभ होता है। जो स्वयं दोषी होकर दोषहीन अन्तरङ्ग लोगोंको क्रुद्ध करते हैं, सर्पके घरमें शयन करनेके समान रात्रिमें वे सुखसे सोने नहीं पाते।

न वृद्धिर्बहुमन्तव्या या वृद्धिः क्षयमावहेत्।
क्षयोऽपि बहुमन्तव्यो यः क्षयो वृद्धिमावहेत्॥
यत्सुखं सेवमानोऽपि धर्मार्थाभ्यां न हीयते।
कामं तदुपसेवेत न मूढ़व्रतमाचरेत्॥

जिस वृद्धिके द्वारा परिणाममें क्षय प्राप्त होता है, ऐसी वृद्धिका गौरव नहीं करना चाहिये; जिस क्षयके पश्चात् वृद्धि प्राप्त हो, वह क्षय ही अच्छा है। जिस सुखका भोग करनेसे धर्म और अर्थकी हानि न हो, वही सुख भोग करना चाहिये। मूढ़की तरह धर्म और अर्थकी हानि करनेवाला सुख भोग करना उचित नहीं है।

आलस्यं मदमोहौ च चापल्यं गोष्ठिरेव च।
उद्धता चाभिमानित्वं तथात्यागित्वमेव च॥
एते वै अष्ट दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनो मताः॥
सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम्।
सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत्सुखम्॥

आलस्य, मद, मोह, चपलता, गोष्ठी, औद्धत्य, अभिमान और लोभ ये ही आठ विद्यार्थियोंके दोष हैं। जो सुख चाहते हैं, वे विद्या नहीं पा सकते। विद्या चाहने पर सुखकी सम्भावना नहीं रहती। अतः सुखार्थीको विद्यात्याग अथवा विद्यार्थीको सुखत्याग करना ही पड़ता है।

इदञ्च त्वां सर्वपरं ब्रवीमि पुण्यं पदं तात महाविशिष्टम् ।
न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः ॥
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ।
त्यक्त्वानित्यं प्रतितिष्ठस्व नित्ये सन्तुष्य त्वं तोषपरो हि लाभः ॥

समस्त उपदेशोंका सार पुण्यमय उपदेश यही है कि, काम, भय या लोभातुर होकर धर्मका त्याग करना उचित नहीं है । यही नहीं, किन्तु प्राणरक्षाके निमित्त भी धर्मत्याग करना उचित नहीं है । धर्म नित्यवस्तु है, सुख-दुःख अनित्य हैं, जीव नित्य है, किन्तु जीवत्वके कारण अनित्य है । अतः अनित्यका त्याग कर नित्य वस्तुका ग्रहण करते हुए सन्तोषके साथ कालयापन करना चाहिये । क्योंकि सन्तोष ही परम लाभ है ।

महाबलान् पश्य महानुभावान्प्रशास्य भूमिं धनधान्यपूर्णाम् ।
राज्यानि हित्वा विपुलाँश्च भोगान् गतान्नरेन्द्रान्वशमन्तकस्य ॥
मृतं पुत्रं दुःखपुष्टं मनुष्या उत्क्षिप्य राजन्स्वगृहान्निर्हरन्ति ।
तं मुक्तकेशाः करुणं रुदन्ति चितामध्ये काष्ठमिव क्षिपन्ति ॥
अन्यो धनं प्रेतगतस्य भुङ्क्ते वयांसि चाग्निश्च शरीरधातून् ।
द्वाभ्यामयं सह गच्छत्यमुत्र पुण्येन पापेन च वेष्ट्यमानः ॥

धनधान्यपूर्ण पृथिवीके शासनकर्ता महाबलशाली नरपतियोंको भी अन्तमें राज्य और विपुल विषयभोगोंको त्यागकर यमराजकी अधीनतामें जाना पड़ता है । मनुष्य कितने ही कष्टोंसे पाले हुए पुत्रको उसके मरनेपर घरसे बाहर निकाल, सिर धुनकर रोता हुआ लकड़ीकी तरह चितामें झोंक देता है । मृतव्यक्तिकी सम्पत्तिका दूसरे लोग उपभोग करते हैं, पक्षी उसके शरीरको खाते हैं, शरीरके धातु आदि द्रव्य अग्निमें जल जाते हैं, वह केवल पुण्य और पापको लेकर परलोकमें गमन करता है ।

उत्सृज्य विनिवर्त्तन्ते ज्ञातयः सुहृदः सुताः ।
अपुष्पानफलान्वृक्षान्यथा तात पतत्रिणः ॥

अग्नौ प्रास्तन्तु पुरुषं कर्मान्वेति स्वयं कृतम्।
तस्मात्तु पुरुषो यत्नात्कर्म सञ्चिनुयाच्छनैः॥

जिस प्रकार फलपुष्पहीन वृक्षको त्याग कर पक्षी उड़ जाते हैं, उसी प्रकार मृत व्यक्तिको ज्ञाति वन्धु, सुहृद, पुत्र आदि छोड़कर अपने अपने घर चले जाते हैं। केवल उसका किया हुआ पुण्यपापमय कर्म उसके भस्म होने पर उसके साथ जाता है। अतः अत्यन्त यत्नसे सदा सर्वदा धर्मार्जन करते रहना चाहिये।

उपसंहार।

नीति शिक्षाके प्रसङ्गमें नैतिक जीवनके आदर्शके सम्बन्धकी अनेक बातें कही गई हैं। इन सब आदर्शोंका अनुसरण कर अपने जीवनको मधुमय बनानेके लिये आर्य्यजातिको और किसी जातिको मुंह ताकनेकी आवश्यकता नहीं है। आर्य्यजातिके प्राचीन इतिहासकी ओर दृष्टिपात करनेसे ज्ञात होता है कि, अनेक शताब्दियोंके उद्योगसे विदेशी लोग मानवचरित्रगठनके जिन साधनोंको अधिकरूपसे संग्रहीत करनेमें समर्थ नहीं हो सके हैं, प्राचीन आर्य्यजातिके व्यावहारिक जीवनके प्रत्येक स्तरमें वे नैसर्गिकरूपसे प्रस्फुटित हुए हैं। उन्हें नैतिक जीवन बनानेके लिये कोई प्रबल पुरुषार्थ करना नहीं पड़ा, वंशपरम्परा क्रमसे आर्य्यत्वके मधुर निदर्शनरूपसे वह आप ही विकसित होता गया। अन्ततः आर्योंके वंशधर यदि पूज्यचरण अपने आर्य्य पिता पितामहादिका हृदयमें एक वार स्मरण करें, तो "वीतरागविषयं वा चित्तम्" योगदर्शनके इस सिद्धांतके अनुसार वे मानव जीवनकी सर्वोच्च

पदवीको पा सकेंगे, इसमें अणुमात्र संदेह नहीं है। उनके लौकिक, पारलौकिक, आध्यात्मिक आदि सभी जीवन पूज्यपाद महर्षियोंके शुभाशीर्वाद और पदाङ्कानुसरणसे चिरधन्य होंगे. भारतमाता ऐसे सुपुत्रोंको गोदमें धारण कर चिरशोभायमाना होगी और उसकी वर्तमान दीनताकी अश्रुधारा सदाके लिये रुक जायगी।

कालके कुटिल चक्रसे रत्नप्रसविनी जगज्जननी भारतमाता आज भिखारिनी हो रही हैं। जिस देशमें वाणिज्यलक्ष्मी सदा विराजमान रहती थी और कला सुंदरी नित्य नयनाभिराम मूर्ति धारण कर समस्त संसारको मुग्ध कर देती थी, वह देश आज वाणिज्यशून्य होकर दुर्भिक्षके कराल गालमें पतित हुआ है और कला सुंदरी तो चिरकालके लिये बिदा पानेको ही उद्यत हुई है। इस समय विदेशीयगण हमारी ओर अङ्गुली दिखाकर हमारा उपहास करते हैं और उन्होंने हमें शिक्षा ही ऐसी दी है, जिससे हमारी बुद्धि मारी जाकर हम यह भूल गये हैं कि, हमारे देशमें क्या था और प्राचीन समयमें भारत किस अवस्थामें था। विदेशीय पुरातत्त्ववेत्ताओंके स्वरमें स्वर मिलाकर हम यह भी कहने लगे हैं और उसीमें अपनी पण्डिताई समझते हैं कि, हम प्राचीन कालमें बड़े ही असभ्य थे, हमारे पिता पितामह भी गवार थे, हमारे देशमें प्रशंसनीय कोई बात नहीं थी, हमारा सामाजिक, राजनैतिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक जीवन बड़ा ही घृणित था, शिल्पकला, कारुकार्य, व्यवसाय-वाणिज्य, भौतिक विज्ञान आदि किसी विषयकी हमारे देशमें उन्नति नहीं हुई थी, केवल विदेशीय सभ्यताका शुभ्र प्रकाश यहां पड़नेपर हम क्रमशः मनुष्यत्व और सर्वाङ्गीण उन्नतिके पथ पर पैर बढ़ा रहे हैं। इस प्रकारकी असत् शिक्षा बाल्यावस्थासे ही बहुत दिनों तक स्कूल कालेजोंमें हमें मिलनेके कारण देशके प्रति हमारे हृदयोंमें आदर नहीं रहता। उच्च शिक्षा पाने पर तो स्वजातीय समस्त

रीति नीतियोंको हम संदेह और अविश्वासकी ही दृष्टिसे देखने लगते हैं। इतिहास पुराणोंमें लिखी हुई वीर कथाओंको मिथ्या गल्प मात्र समझते हैं और इस तरहसे प्राचीन गौरव गाथाको अन्धकारमें रख कर एक प्रकारका पैशाचिक आनन्द भी पाते हैं। ये सब हमारे दुर्भाग्यके ही फल हैं, जो हम जातीय शिक्षासे वञ्चित रहकर ऐसी घृणाजनक दैन्य दशाको प्राप्त हुए हैं। रत्नप्रसविनी भारतमाताकी गोदमें किस वस्तुका अभाव था? जिस देशमें दधीचि जैसे महात्मा धर्मरक्षा, देशरक्षा और देवताओंके कल्याणके लिये अपने हृदयका रक्त और छातीकी हड्डियां आनन्दसे निकाल दे सकते थे क्या उस देशमें दूसरोंके लिये प्राण समर्पण करनेके महाव्रतमें व्रती हुए पुण्य-श्लोक आर्योंका अभाव था? जिस देशमें हरिश्चन्द्र जैसे राजा, सत्यकी मर्यादाका प्रतिपालन करनेके लिये समस्त राज्य विश्वामित्र-को अर्पण कर स्वयं चाण्डालका दासत्व करनेमें कुण्ठित नहीं हुए, क्या उस देशमें सत्यवक्ता और दाताओंका अभाव था? जिस देशमें भीष्मदेव जैसे सुपुत्र पूज्य पिताके सन्तोषार्थ आजन्म राजत्यागी होकर कठोर ब्रह्मचर्यव्रतका पालन कर सके थे, क्या उस देशमें जिते-न्द्रियता और संयमका अभाव था? जिस देशमें पितृसत्यरक्षाके लिये श्रीरामचन्द्रजी जैसे मर्यादापुरुषोत्तम, चौदह वर्षोंतक राज्य, धन और समस्त ऐश्वर्यों का त्यागकर जटावल्कलधारी हो वनवास कर सके थे, क्या उस देशमें पितृभक्तका अभाव था? जिस देशमें लक्ष्मण जैसे भ्राता, रामचन्द्रकी शुश्रूषाके लिये चौदह वर्षोंतक वन-वासके क्लेश सहन कर शक्तिशेलके आघातसे मूर्छित होनेपर भी भ्राता-को नहीं छोड़ सके थे, क्या उस देशमें भ्रातृप्रेमका अभाव था? जिस देशमें युधिष्ठिर जैसे धर्मात्मा, कृतान्तसदृश चारों भाई और साक्षात् नारायणकी सहायता पाकर भी केवल धर्मप्रतिज्ञारक्षाके लिये भयानक अपमान, निर्यातन, वनवास और अज्ञातवासके कष्ट

६ क

सहन करनेमें समर्थ हुए थे, क्या उस देशमें धार्मिक जीवनका अभाव था? जिस देशमें बुद्धदेव जैसे शान्तिमूर्ति, जीवदयाके वशवर्ती हो, अपने राज्य और इकलौते पुत्रको त्यागकर कठोर तपस्या-व्रतमें निरत हुए थे, क्या उस देशमें त्याग और दया वृत्तिका अभाव था? जिस देशमें ध्रुव-प्रह्लाद जैसे पांच-दश वर्षोंके बालक तपस्या और उत्तुङ्ग भक्तिके बलसे सर्वशक्तिमान् भगवान्‌को भी प्रेमकी डोरसे बांध लेनेमें समर्थ हुए थे, क्या उस देशमें अलौकिक अनुराग और भक्तिभावका अभाव था? जिस देशमें महाराणा प्रतापसिंह जैसे मातृभूमिसेवक, "अर्थं वा साधयामि, देहं वा पातयामि" इस प्रतिज्ञाके अनुसार पुत्रपरिवारसहित तीस वर्षों तक घासकी रोटियां खाकर घोर अरण्यमें भ्रमण करते रहे, क्या उस देशमें मातृभक्त महापुरुषोंका अभाव था? जिस देशके योगी ऋषिगण अति निगूढ़-योगशक्तिके बलसे समाधिसुखमें मग्न होकर अतुल आनन्द प्राप्त करते थे और सूर्यमें संयम-साधनकर निखिल भुवनोंके निरवच्छिन्न ज्ञानका लाभ करते थे, क्या उस देशमें आनन्द और सर्वज्ञताका अभाव था? जिस देशमें ज्ञानी ऋषिगण प्रकृतिपारावारके परपार-स्थित परब्रह्मके गम्भीर ज्ञानका लाभकर प्रचण्ड ज्ञानज्योतिके तेजसे समस्त विश्वके अन्धकारको हटानेमें पूर्ण समर्थ होते थे, क्या उस देशमें ब्रह्मज्ञान और श्रीभगवान्‌के कृपालाभका अभाव था? हमारे देशमें सब कुछ था। अब भी सच्चे हिन्दुओंकी नाड़ियोंमें प्राचीन गौरवका उष्णशोणित प्रवाहित हो रहा है। अब भी आर्योंके मूल्यवान् मस्तिष्कोंमें वेदव्यासका गम्भीर ज्ञान, हृदयोंमें प्रह्लादकी परमाभक्ति, प्राणोंमें भीष्मपितामहका वीर भाव और अन्तःकरणोंमें आर्य-जन-सुलभ निखिल सद्वृत्तियां, रत्नाकरके अतल-तलस्थित रत्नसमूहोंके समान विराजमान हैं। उनको जाग्रत करने, मनुष्यत्वके शुभ्र प्रकाशमें अज्ञानतिमिरका नाश

करने और अतीतकी महिमासे मण्डित सुवर्णमन्दिरमें भविष्यत्की सुषमामयी मातृप्रतिमाकी पुनः प्रतिष्ठा करने भरकी अब आवश्यकता है। यदि यह हम कर सकें, तो ऋषियोंके वंशमें हमारा जन्मग्रहण करना सार्थक होगा, भारतमाताके सुकोमल अङ्कमें सुशोभित होना सार्थक होगा और आर्यसन्तान यह नाम धारण करना भी सार्थक होगा।

आर्यसन्तानकी हृदयोंमें पुण्यश्लोक आर्योंकी उल्लिखित महिमाकी प्राणप्रतिष्ठा हो, इसी विचारसे यह 'नीतिचन्द्रिका' लिखी गई है। इसमें संगृहीत उपदेशकुसुमोंकी सुगन्धिसे आर्य्यजीवन आमोदित हो यही श्रीभगवान्के चरणकमलोंमें विनीत प्रार्थना है।

मोहमुद्गर।

दिनयामिन्यौ सायं प्रातः
शिशिरवसन्तौ पुनरायातः।
कालः क्रीड़ति गच्छत्यायु-
स्तदपि न मुञ्चत्याशावायुः॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढ़मते!
अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं
दशनविहीनं जातं तुण्डं।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं
तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम्॥ भज गोविन्दं०
अग्रे वह्निः पृष्ठे भानुः
रात्रौ चुबुकसमर्पितजानुः।
करतलभिक्षा तरुतलवास-
स्तदपि न मुञ्चत्याशापाशः॥ भज गोविन्दं०

यावद्वित्तोपार्जनसक्त-
स्तावन्निजपरिवारो रक्तः ।
पश्चाज्जीवति जर्जरदेहे
वार्ता कोऽपि न पृच्छति गेहे ॥ भज गोविन्दं०

यावत्पवनो निवसति देहे
तावत्पृच्छति कुशलङ्गेहे ।
गतवति वायौ देहापाये
भार्या बिभ्यति तस्मिन्काये ॥ भज गोविन्दं०

बालस्तावत्क्रीडासक्त-
स्तरुणस्तावत्तरुणीरक्तः ।
वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः
पारे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः ॥ भज गोविन्दं०

का ते कान्ता कस्ते पुत्रः
संसारोऽयमतीव विचित्रः ।
कस्य त्वं कः कुत आयात-
स्तत्त्वं चिन्तय तदिदं भ्रातः ॥ भज गोविन्दं०

वयसि गते कः कामविकारः
शुष्के नीरे कः कासारः ।
क्षीणे वित्ते कः परिवारो
ज्ञाते तत्त्वे कः संसारः ॥ भज गोविन्दं०

मा कुरु धन-जन-यौवनगर्वं
हरति निमेषात्कालः सर्वम् ।
मायामयमिदमखिलं हित्वा
ब्रह्मपदं त्वं प्रविश विदित्वा ॥ भज गोविन्दं०

भगवद्गीता किञ्चिदधीता
गङ्गाजललवकणिका पीता ।

सकृदपि यस्य मुरारिसमर्चा
क्रियते तस्य यमेन न चर्चा ॥ भज गोविन्दं०
पुनरपि जननं पुनरपि मरणं
पुनरपि जननीजठरे शयनं ।
इह संसारे बहुदुस्तारे
कृपयाऽपारे पाहि मुरारे ॥ भज गोविन्दं०
कामं क्रोधं लोभं मोहं
त्यक्त्वात्मानं भावय कोऽहम् ।
आत्मज्ञानविहीना मूढा-
स्ते पच्यन्ते नरकनिगूढाः ॥ भज गोविन्दं०
गेयं गीतानामसहस्रं
ध्येयं श्रीपतिरूपमजस्रम् ।
नेयं सज्जनसङ्गे चित्तं
देयं दीनजनाय च वित्तम् ॥ भज गोविन्दं०
जटिलो मुण्डी लुञ्चितकेशः
काषायाम्बरबहुकृतवेषः ।
पश्यन्नपि च न पश्यति मूढ़
उदरनिमित्तं बहुकृतवेषः ॥ भज गोविन्दं०
पुनरपि रजनी पुनरपि दिवसः
पुनरपि पक्षः पुनरपि मासः ।
पुनरप्ययनं पुनरपि वर्षं
तदपि न मुञ्चत्याशामर्षम् ॥ भज गोविन्दं०
नारीस्तनभरनाभिनिवेशं
मिथ्यामायामोहावेशम् ।
एतन्मांसवसादिविकारं
मनसि विचारय वारंवारम् ॥ भज गोविन्दं०

सुखतः क्रियते रामाभोगः
पश्चाद्धन्त शरीरे रोगः ।
यद्यपि लोके मरणं शरणं
तदपि न मुञ्चति पापाचरणम् ॥ भज गोविन्दं०

रथ्याचर्पटविरचित कन्थः
पुण्यापुण्यविवर्जितपन्थः ।
नाहं न त्वं नायं लोक-
स्तदपि किमर्थं क्रियते शोकः ॥ भज गोविन्दं०

कुरुते गङ्गासागरगमनं
व्रतपरिपालनमथवा दानम् ।
ज्ञानविहीने सर्वमनेन
मुक्तिर्न भवति जन्मशतेन ॥ भज गोविन्दं०

सनातन धर्मकी पुस्तकें

धर्मकल्पद्रुम ।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित ।

यह हिंदूधर्मका अद्वितीय और परमावश्यक ग्रन्थ है। हिन्दुजातिकी पुनरुन्नतिके लिये जिन जिन आवश्यकीय विषयोंकी जरूरत है, उनमेंसे सबसे बड़ी भारी जरूरत एक ऐसे धर्मग्रन्थकी थी कि जिसके अध्ययन अध्यापनके द्वारा सनातनधर्मका रहस्य और उसका विस्तृत स्वरूप तथा उसके अङ्गउपाङ्गोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सके और साथ ही साथ वेद और सब शास्त्रोंका आशय तथा वेदों और सब शास्त्रोंमें कहे हुए विज्ञानोंका यथाक्रम स्वरूप जिज्ञासुको भली-भांति विदित हो सके। इसी गुरुतर अभावको दूर करनेके लिये भारतके प्रसिद्ध धर्मवक्ता और श्रीभारतधर्ममहामण्डलस्थ उपदेशक महाविद्यालयके दर्शनशास्त्रके अध्यापक श्रीमान् स्वामी दयानन्दजी महाराजने इस ग्रन्थका प्रणयन करना प्रारंभ किया है। इसमें वर्तमान समयके आलोच्य सभी विषय विस्तृतरूपसे दिये जायंगे। इस ग्रन्थसे आजकलके अशास्त्रीय और विज्ञानरहित धर्मग्रन्थों और धर्मप्रचारके द्वारा जो हानि हो रही है, वह सब दूर होकर यथार्थरूपसे सनातन वैदिक धर्मका प्रचार होगा। इस ग्रन्थरत्नमें साम्प्रदायिक पक्षपातका लेशमात्र भी नहीं है और निष्पक्षरूपसे सब विषय प्रतिपादित किये गये हैं, जिससे सकल प्रकारके अधिकारी कल्याण प्राप्त कर सकें। इसमें और भी एक विशेषता यह है कि, हिन्दूशास्त्रके सभी विज्ञान शास्त्रीय प्रमाणों और युक्तियोंके सिवाय, आजकलकी पदार्थ विद्या (Science) के द्वारा भी प्रतिपादित किये गये हैं, जिससे आजकलके नवशिक्षित पुरुष भी इससे लाभ उठा सकें। इसके सात खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। प्रथम खण्डका मूल्य २), द्वितीयका १॥), तृतीयका २), चतुर्थका २), पंचमका २) और षष्ठका १॥) एवं सप्तमका २) है। इसके प्रथम दो खण्ड बढ़िया कागजपर भी छापे गये हैं और दोनों ही एक बहुत सुन्दर जिल्दमें बांधे गये हैं। मूल्य ५) है। आठवां खण्ड यंत्रस्थ है।

प्रवीण दृष्टिमें नवीन भारत ।

श्रीस्वामी दयानन्द सम्पादित ।

इस ग्रंथमें आर्यजातिका आदिका वासस्थान, उन्नतिका आदर्श निरूपण, शिक्षादर्श, आर्यजीवन, वर्णधर्म आदि विषय वैज्ञानिक युक्ति तथा शास्त्रीय प्रमाणोंके साथ वर्णित हैं। यह ग्रन्थ धर्मशिक्षाके अर्थ बी. ए. क्लासका पाठ्य है। इसके दो खण्ड हैं प्रत्येकका मूल्य २)

नवीन दृष्टिमें प्रवीण भारत ।

श्रीस्वामी दयानन्द सम्पादित ।

भारतका प्राचीन गौरव और आर्यजातिका महत्त्व जाननेके लिये यह एक ही पुस्तक है। इसका द्वितीय संस्करण परिवर्द्धित और सुन्दर होकर छप चुका है। यह ग्रन्थ भी बी० ए० क्लासका पाठ्य है। मूल्य १)

साधनचन्द्रिका ।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित ।

इसमें मंत्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग इन चारों योगोंका संक्षेपमें अति सुंदर वर्णन किया गया है। यह ग्रंथ प्रथम वार्षिक एफ. ए. क्लासका पाठ्य है। मूल्य १॥)

शास्त्रचन्द्रिका ।

अज्ञाननाशिनी और ज्ञानजननीको विद्या कहते हैं। विद्या दो भागमें विभक्त है, एक परा विद्या और दूसरी अपरा विद्या। गुरु-मुखसे प्राप्त होनेवाली ब्रह्मविद्या परा विद्या कहलाती है। परा विद्या ग्रन्थोंसे नहीं प्रकाशित होती, परन्तु ग्रन्थोंसे प्रकाशित होनेवाली विद्याको अपरा विद्या कहते हैं। अपरा विद्या भी पुनः दो भागोंमें विभक्त है, यथा—लौकिक विद्या और पारलौकिक विद्या। शिल्प, कला, वाणिज्य, पदार्थविद्या, सायन्स, राजनीति, समाजनीति, युद्ध-विद्या, चिकित्साविद्या आदि सब लौकिक विद्याके अन्तर्गत हैं और वेद और वेदसम्मत दर्शन पुराणादि शास्त्र सब पारलौकिक विद्याके अन्तर्गत माने गये हैं। पारलौकिक विद्याके दिग्दर्शनार्थ यह ग्रन्थ इस विचारसे बनाया गया है कि, जिससे विद्यार्थियोंको धर्म-शिक्षा प्राप्त करनेमें सहायता प्राप्त हो सके। मूल्य १॥) रुपया।

धर्मचन्द्रिका ।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित ।

एन्ट्रेस क्लासके बालकोंके पाठनोपयोगी उत्तम धर्मपुस्तक है। इसमें सनातनधर्मका उदार सार्वभौम स्वरूपवर्णन, यज्ञ, दान, तप आदि धर्माङ्गोंका विस्तृत वर्णन, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, नारीधर्म, आर्यधर्म, राजधर्म तथा प्रजाधर्मके विषयमें बहुत कुछ लिखा गया है। कर्मविज्ञान, सन्ध्या, पञ्चमहायज्ञ आदि नित्यकर्मोंका वर्णन, षोड़श संस्कारोंके पृथक् पृथक् वर्णन और संस्कारशुद्धि तथा क्रियाशुद्धि द्वारा मोक्षका यथार्थ मार्ग निर्देश किया गया है। इस ग्रन्थके पाठसे छात्रगण धर्मतत्त्व अवश्य ही अच्छी तरहसे जान सकेंगे। मूल्य १)

आर्य गौरव ।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित ।

आर्यजातिका महत्त्व जाननेके लिये एक ही पुस्तक है। यह ग्रन्थ स्कूलकी ९ वीं तथा १० वीं कक्षाका पाठ्य है। मूल्य ॥)

आचारचन्द्रिका ।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित ।

यह भी स्कूलपाठ्य सदाचारसम्बन्धीय धर्म पुस्तक है। इसमें प्रातःकालसे लेकर रात्रिमें निद्राके पहले तक क्या क्या सदाचार किस लिये प्रत्येक हिन्दुसन्तानको अवश्य ही पालने चाहिये, इसका रहस्य उत्तम रीतिसे बताया गया है और आधुनिक समयके विचार-से प्रत्येक आचारपालनका वैज्ञानिक कारण भी दिखाया गया है। यह ग्रन्थ बालकोंके लिये अवश्य ही पाठ करने योग्य है। यह स्कूल-की ८ वीं कक्षाका पाठ्य है। मूल्य ॥)

चरित्रचन्द्रिका ।

सम्पादक पं॰ गोविन्दशास्त्री दुगवेकर ।

इस ग्रन्थमें पौराणिक ऐतिहासिक और आधुनिक महापुरुषोंके सुन्दर मनोहर विचित्र चरित्र वर्णित हैं। यह ग्रन्थ स्कूलकी ६ ठी कक्षाका पाठ्य है। प्रथम भागका मूल्य १) और दूसरे भागका १।)

धर्मप्रश्नोत्तरी ।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित ।

सनातनधर्मके प्रायः सब सिद्धान्त अतिसंक्षिप्तरूपसे इस पुस्तिकामें लिखे गये हैं। प्रश्नोत्तरीकी प्रणाली ऐसी सुन्दर रक्खी गई है कि छोटे बच्चे भी धर्मतत्त्वोंको भलीभांति हृदयङ्गम कर सकेंगे। भाषा भी अतिसरल है । यह ग्रन्थ स्कूलकी ४ थी कक्षाका पाठ्य है। कागज और छपाई बढ़िया होनेपर भी मूल्य केवल ।) मात्र है ।

परलोक–रहस्य ।

श्रीमान् स्वामी दयानन्द विरचित ।

मनुष्य मरकर कहां जाता है, उसकी क्या गति होती है, इस विषयपर वैज्ञानिक युक्ति तथा शास्त्रीय प्रमाणोंके साथ विस्तृत रूपसे वर्णन है। मूल्य ।)

चतुर्दशलोक रहस्य ।

श्रीमान् स्वामी दयानन्द विरचित ।

स्वर्ग और नरक कहां और क्या वस्तु है, उनके साथ हमारे इस मृत्युलोकका क्या सम्बन्ध है इत्यादि विषय शास्त्र और युक्तिके साथ वर्णित किये गये हैं। आजकल स्वर्ग नरक आदि लोकोंके विषयमें बहुत संशय फैल रहा है। श्रीमान् स्वामीजी महाराजने अपनी स्वाभाविक सरल युक्तियोंके द्वारा चतुर्दश लोकोंका रहस्य वर्णन करते हुए उस सन्देहका अच्छा समाधान किया है। मूल्य ।)

सती-चरित्र-चन्द्रिका ।

श्रीमान् पं० गोविन्दशास्त्री दुगवेकर सम्पादित ।

इस पुस्तकमें सीता, सावित्री, गार्गी, मैत्रेयी आदि ४४ सती स्त्रियोंके जीवनचरित्र लिखे गये हैं। मूल्य २)

नित्य कर्म चन्द्रिका ।

इस ग्रंथमें प्रातःकालसे लेकर रात्रिपर्यन्त हिन्दुमात्रके अनुष्ठान करने योग्य नित्य कर्म वैदिक तांत्रिक मन्त्रोंके साथ भलीभांति वर्णित किये गये हैं। मूल्य ।)

धर्मसोपान ।

यह धर्मशिक्षा विषयक बड़ी उत्तम पुस्तक है। बालकोंको इससे धर्मका साधारण ज्ञान भलीभांति हो जाता है। यह पुस्तक क्या बालक बालिका, क्या वृद्ध स्त्री पुरुष, सबके लिये बहुत ही उपकारी है। धर्मशिक्षा पानेकी इच्छा करने वाले सज्जन अवश्य इस पुस्तकको मंगावें। यह स्कूलकी ५ वीं कक्षाका पाठ्य है। मूल्य ।) आना।

धर्म-कर्म-दीपिका।

इस पुस्तकमें कर्मका स्वरूप, कर्मके भेद, संस्कारके लक्षण और भेद, वैदिक संस्कारोंका रहस्य, त्रिविध कर्मका वैज्ञानिक स्वरूप, कर्मसम्बन्धसे मुक्ति, कर्मके साथ धर्मका मिश्र सम्बन्ध, धर्मरूप कल्पद्रुमका विस्तृत वर्णन, वर्णाश्रमधर्मकी महिमा और विज्ञान, उपासना रहस्य, उपासनाकी मूलभित्तिरूप पीठरहस्य, धर्म कर्म और यज्ञ शब्दोंका वैज्ञानिकरहस्य और सदाचारका विज्ञान और महत्त्व प्रतिपादन किया गया है, यह ग्रन्थ मूल और सुस्पष्ट हिन्दी-अनुवादसहित शास्त्रीय प्रमाण देकर छापा गया है, यह ग्रन्थरत्न प्रत्येक सनातनधर्मावलम्बीके लिये उपादेय है। मूल्य ॥)

सदाचारसोपान।

यह पुस्तक कोमलमति बालक बालिकाओंकी धर्मशिक्षाके लिये प्रथम पुस्तक है। यह स्कूलकी तीसरी कक्षाका पाठ्य है। मूल्य -) एक आना।

कन्याशिक्षासोपान।

कोमलमति कन्याओंको धर्मशिक्षा देनेके लिये यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। मूल्य -)

ब्रह्मचर्यसोपान।

ब्रह्मचर्य्यव्रतकी शिक्षाके लिये यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। सब ब्रह्मचारी आश्रम, पाठशाला और स्कूलोंमें इस ग्रन्थकी पढ़ाई होनी चाहिये। मूल्य ।) आना।

राजशिक्षासोपान।

राजा महाराजा और उनके कुमारोंको धार्मिक शिक्षा देनेके लिये

यह ग्रन्थ बनाया गया है, परन्तु सर्वसाधारणकी धर्म्मशिक्षाके लिये भी यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है, इसमें सनातनधर्मके अंग और उसके तत्त्व अच्छी तरह बताये गये हैं। मूल्य ≈) तीन आना।

साधनसोपान।

यह पुस्तक उपासना और साधनशैलीकी शिक्षा प्राप्तकरनेमें बहुत ही उपयोगी है। इसका बंगला अनुवाद भी छप चुका है। बालक बालिकाओंको पहलेसे इस पुस्तकको पढ़ाना चाहिये। यह पुस्तक ऐसी उपकारी है कि, बालक और वृद्ध समानरूपसे इससे साधन-विषयक शिक्षा लाभ कर सकते हैं। मूल्य।) चार आना।

शास्त्रसोपान।

सनातनधर्मके शास्त्रोंका संक्षेप सारांश इस ग्रन्थमें वर्णित है। सब शास्त्रोंका कुछ विवरण समझनेके लिये प्रत्येक सनातनधर्मावलम्बीके लिये यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है। मूल्य।) चार आना।

धर्मप्रचारसोपान।

यह ग्रन्थ धर्मोपदेश देनेवाले उपदेशक और पौराणिक पण्डितोंके लिये बहुत ही हितकारी है। मूल्य।) आना।

उपदेशपारिजात।

यह संस्कृत गद्यात्मक अपूर्व ग्रन्थ है। सनातनधर्म क्या है, धर्मोपदेश किसको कहते हैं, सनातनधर्मके सब शास्त्रोंमें क्या २ विषय हैं, धर्मवक्ता होनेके लिये किन २ योग्यताओंके होनेकी आवश्यकता है इत्यादि अनेक विषय इस ग्रन्थमें हैं। संस्कृत विद्वान्मात्रको पढ़ना उचित है और धर्मवक्ता, धर्मोपदेशक, पौराणिक पण्डित आदिके लिये तो यह ग्रन्थ सब समय साथ रखने योग्य है। मूल्य ॥) आना।

कल्किपुराण।

कल्किपुराणका नाम किसने नहीं सुना है? इस कलियुगमें कल्कि महाराज अवतार धारणकर दुष्टोंका संहार करेंगे, उसका पूर्ण वृत्तान्त है। वर्तमान समयके लिये यह बहुत हितकारी ग्रन्थ है। विशुद्ध हिंदी अनुवाद और विस्तृत भूमिका सहित यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। धर्मजिज्ञासुमात्रको इस ग्रन्थको पढ़ना उचित है। मूल्य १॥)

योगदर्शन ।

हिन्दी भाष्यसहित । इस प्रकारका हिन्दी भाष्य और कहीं प्रकाशित नहीं हुआ है । सब दर्शनोंमें योगदर्शन सर्ववादिसम्मत दर्शन है और इसमें साधनके द्वारा अन्तर्जगत्के सब विषयोंका प्रत्यक्ष अनुभव करा देनेकी प्रणाली रहनेके कारण इसका पाठन और भाष्य एवं टीका निर्माण वही सुचारुरूपसे कर सकता है, जो योगके क्रियासिद्धांशका पारगामी हो । प्रत्येक सूत्रका भाष्य प्रत्येक सूत्रके आदिमें भूमिका देकर ऐसा क्रमबद्ध बना दिया गया है कि, जिससे पाठकोंको मनोनिवेशपूर्वक पढ़नेपर असम्बद्ध नहीं मालूम होगा और ऐसा प्रतीत होगा कि, महर्षि सूत्रकारने जीवोंके क्रमाभ्युदय और निःश्रेयसके लिये मानों एक महान् राजपथ निर्माण कर दिया है । इसका द्वितीय संस्करण छपकर तैयार है, इसमें इस भाष्यको और भी अधिक सुस्पष्ट, परिवर्द्धित और सरल किया गया है । मूल्य २) दो रुपया ।

श्रीभारतधर्ममहामण्डलरहस्य ।

इस ग्रंथमें सात अध्याय हैं । यथा—आर्य्यजातिकी दशाका परिवर्त्तन, चिंताका कारण, व्याधिनिर्णय, औषधिप्रयोग, सुपथ्यसेवन, बीजरक्षा और महायज्ञसाधन । यह ग्रंथरत्न हिंदूजातिकी उन्नतिके विषयका असाधारण ग्रन्थ है । प्रत्येक सनातनधर्मावलम्बीको इस ग्रन्थको पढ़ना चाहिये । द्वितीयावृत्ति छप चुकी है, इसमें बहुतसा विषय बढ़ाया गया है । इस ग्रन्थका आदर सारे भारतवर्षमें समानरूपसे हुआ है । धर्मके गूढ़तत्त्व भी इसमें बहुत अच्छी तरहसे बताये गये हैं । इसका बंगला अनुवाद भी छप चुका है । मूल्य १)

निगमागमचन्द्रिका ।

प्रथम, द्वितीय, पञ्चम और षष्ठ भाग धर्मानुरागी सज्जनोंको मिल सकते हैं । इन भागोंमें सनातनधर्मके अनेक गूढ़ रहस्यसम्बन्धी ऐसे ऐसे प्रबंध प्रकाशित हुए हैं कि, आजतक वैसे धर्मसम्बन्धी प्रबंध और कहीं भी प्रकाशित नहीं हुए हैं । जो धर्मके अनेक रहस्य जानकर तृप्त होना चाहें, वे इन पुस्तकोंको मंगावें । प्रत्येकका मूल्य १)

मन्त्रयोगसंहिता।

भाषानुवादसहित। योगविषयक ऐसा अपूर्व ग्रन्थ आजतक प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें मन्त्रयोगके १६ अङ्ग और क्रमशः उनके लक्षण, साधनप्रणाली आदि सब अच्छी तरहसे वर्णन किये हैं। इसमें मन्त्रोंका स्वरूप और उपास्यनिर्णय बहुत अच्छा किया गया है और अनर्थकारी साम्प्रदायिक विरोधके दूर करनेके लिये यह एकमात्र ग्रन्थ है, इसमें नास्तिकोंके मूर्ति पूजा, मन्त्रसिद्धि आदि विषयोंमें जो प्रश्न होते हैं, उनका अच्छा समाधान है। मूल्य १) एक रु०।

हठयोगसंहिता।

भाषानुवादसहित। योगविषयक ऐसा अपूर्व ग्रन्थ आजतक प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें हठयोगके ७ अंग और क्रमशः उनके लक्षण साधनप्रणाली आदि सब अच्छी तरहसे वर्णन किये गये हैं। गुरु और शिष्य दोनों ही उससे पूरा लाभ उठा सकते हैं। मूल्य ॥।)

तत्त्वबोध।

भाषानुवाद और वैज्ञानिक टिप्पणी सहित। यह मूल वेदान्त ग्रन्थ श्रीशंकराचार्य्य कृत है। इसका वंगानुवाद भी प्रकाशित हो चुका है। मूल्य =)

स्तोत्रकुसुमाञ्जलि।

इसमें पञ्चदेवता, अवतार और ब्रह्मकी स्तुतिओंके साथ साथ आजकलकी आवश्यकतानुसार धर्मस्तुति, गंगादि पवित्र तीर्थोंकी स्तुति, वेदान्तप्रतिपादक स्तुतियां और काशीके प्रधान देवता श्रीविश्वनाथादिकी स्तुतियां हैं। मू० ।) आना।

श्रीमद्भगवद्गीता प्रथमखण्ड।

श्रीगीताजीका अपूर्व हिन्दी—भाष्य यह प्रकाशित हो रहा है, जिसका प्रथम खण्ड जिसमें प्रथम अध्याय और द्वितीय अध्यायका कुछ हिस्सा है, प्रकाशित हुआ है। आजकल श्रीगीताजीपर अनेक संस्कृत और हिन्दी-भाष्य प्रकाशित हुए हैं, परन्तु इस प्रकारका भाष्य आजतक किसी भाषामें प्रकाशित नहीं हुआ है। गीताका अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूतरूपी त्रिविध स्वरूप, प्रत्येक श्लोकका

त्रिविध अर्थ और सब प्रकारके अधिकारियोंके समझने योग्य गीता–विज्ञानका विस्तारित विवरण इस भाष्यमें मौजूद है। मूल्य १) एक रु०।

सप्त गीताएं।

पञ्चोपासनाके अनुसार पांच प्रकारके उपासकोंके लिये पांच गीताएं–श्रीविष्णुगीता, श्रीसूर्य्यगीता, श्रीशक्तिगीता, श्रीधीशगीता और श्रीशम्भुगीता एवं संन्यासियोंके लिये संन्यासगीता और साधकोंके लिये गुरुगीता भाषानुवाद सहित छप चुकी हैं। इन सातों गीताओंमें अनेक दार्शनिक तत्त्व, अनेक उपासनाकाण्डके रहस्य और प्रत्येक उपास्य देवकी उपासनासे सम्बन्ध रखनेवाले विषय सुचारुरूपसे प्रतिपादित किये गये हैं। ये सातों गीताएं उपनिषद्रूप हैं। प्रत्येक उपासक अपने उपास्यदेवका गीतासे तो लाभ उठावेगा ही, किन्तु अन्य चार गीताओंके पाठ करनेसे भी वह अनेक उपासनातत्त्वोंको तथा अनेक वैज्ञानिक रहस्योंको जान सकेगा और उसके अन्तःकरणमें प्रचलित साम्प्रदायिक ग्रन्थोंसे जैसा विरोध उदय होता है, वैसा नहीं होगा, वह परम शान्तिका अधिकारी हो सकेगा। संन्यासगीतामें सब सम्प्रदायोंके साधु और संन्यासियोंके लिये सब जानने योग्य विषय सन्निविष्ट हैं। संन्यासिगण इसके पाठ करनेसे विशेष ज्ञान प्राप्त करसकेंगे। गृहस्थोंके लिये भी यह ग्रन्थ धर्मज्ञानका भण्डार है। श्रीमहामण्डल प्रकाशित गुरुगीताके सदृश ग्रंथ आजतक किसी भाषामें प्रकाशित नहीं हुआ है। इसमें गुरु-शिष्यलक्षण, उपासनाका रहस्य और भेद, मन्त्र हठ लय और राजयोगोंके लक्षण और अङ्ग एवं गुरुमाहात्म्य, शिष्यकर्तव्य, परम तत्त्वका स्वरूप और गुरुशब्दार्थ आदि सब विषय स्पष्टरूपसे हैं। मूल, स्पष्ट सरल और सुमधुर भाषानुवाद और वैज्ञानिक टिप्पणी सहित यह ग्रंथ छपा है। गुरु और शिष्य दोनोंके लिये यह उपकारी ग्रन्थ है। विष्णुगीताका मूल्य १), सूर्य्यगीताका मूल्य ॥), शक्तिगीताका मूल्य १), धीशगीताका मूल्य ॥।), शंभुगीताका मूल्य १) संन्यासगीताका मूल्य १) और गुरुगीताका मूल्य ।) है। इनमेंसे पञ्चोपासनाकी पांच गीताओंमें एक एक तीनरंगा विष्णुदेव, सुर्य्यदेव भगवती और गणपतिदेव तथा शिवजीका चित्र भी दिया गया है। शम्भुगीतामें वर्णाश्रमबंध नामक चित्र भी देखने योग्य है।

कर्म्ममीमांसा दर्शन ।

महर्षि भरद्वाजकृत यह दर्शनशास्त्र अनुसन्धान द्वारा प्राप्त हुआ है जिसका यह प्रथम धर्म्मपाद प्रकाशित हुआ है। सूत्र, सूत्रका हिन्दीमें अर्थ और संस्कृत भाष्यका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार इसको छापा गया है। कर्म्मके साथ धर्म्मका सम्बन्ध, धर्म्मके अङ्गोपाङ्ग, पुरुषधर्म, नारीधर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, आपद्धर्म, प्रायश्चित्त प्रकरण आदि अनेक विषयोंका विज्ञान धर्मपादमें वर्णित हुआ है। संस्कारशुद्धिसे क्रियाशुद्धि कैसे होती है तथा उसके द्वारा मोक्षप्राप्ति किस प्रकार हो सकती है इत्यादि विषयोंका विज्ञान संस्कारपाद, क्रियापाद और मोक्षपादमें वर्णित हुआ है। ज्ञानकी सप्त भूमिकाओंके अनुसार पञ्चम भूमिकाका यह दर्शन है। महर्षि जैमिनीकृत जो वृहत कर्म मीमांसा दर्शन उपलब्ध होता है वह केवल वैदिक कर्मकाण्डके विज्ञानका प्रतिपादक है। वैदिक यज्ञोंका प्रचार आजकल बहुत कम होनेके कारण जैमिनीदर्शनका उपयोग बिलकुल नहीं होता है यही कहना युक्तियुक्त होगा। महर्षि भरद्वाजकृत उपर्युक्त दर्शन ग्रंथ कर्मके सब अंगोंके विज्ञानका प्रतिपादक और धर्म विज्ञानके रहस्यका वर्णन करनेवाला है। इस ग्रंथरत्नका चार खण्डोंमें प्रकाशित होना सम्भव है। इसका द्वितीय पाद भी प्रकाशित होगया है। क्रमशः मूल्य १॥) २)

श्रीरामगीता ।

श्रीमहर्षि वशिष्ठकृत तत्त्वसारायणमें कथित यह श्रीरामगीता है। परमधार्मिक विद्वान् स्वर्गवासी भारतधर्म सुधाकर श्रीमहारावलजी साहब सर विजयसिंहजी बहादुर के० सी० आई० ई० डूंगरपुर राज्याधिपतिके पुरुषार्थ द्वारा इसका सुललित हिन्दी भाषामें अनुवाद हुआ है और विस्तृत वैज्ञानिक टिप्पणियोंके द्वारा इसके दुरूह विषयोंका स्पष्टीकरण किया गया है इन टिप्पणियोंके महत्त्वको सब दर्शनोंका ज्ञाता और सब योगोंका अभ्यासी समझ कर आनन्दित हो सकता है क्योंकि इसमें सब तरहके विषय आये हैं। इसके आदिमें श्रीरामचन्द्रजीके मर्यादा पुरुषोत्तम अवतारकी लीलाओंका विशद रहस्य प्रकाशित किया गया है। इस पुस्तकमें श्रीरामचन्द्र सीता और हनुमान आदिके कई त्रैवर्णिक चित्र भी दिये गये हैं।

कागज छपाई तथा जिल्द आदि उत्कृष्ट है। श्रीमहामण्डलके शास्त्र प्रकाश विभागके सम्पादकत्वमें यह ग्रंथरत्न प्रकाशित हुआ है। इसमें अयोध्यामण्डपादि वर्णन, प्रमाणसार विवरण, ज्ञान-योग निरूपण, जीवन्मुक्तिनिरूपण, विदेह मुक्ति निरूपण, वासना त्तयादिनिरूपण, सप्तभूमिका निरूपण, समाधिनिरूपण, वर्णाश्रम व्यवस्थापन, कर्मविभाग योग निरूपण, गुणत्रय विभाग योग निरूपण, विश्वरूप निरूपण, तारक प्रणव विभाग योग, महावाक्यार्थविवरण, नव चक्र विवेक योगनिरूपण, अणिमादि सिद्धि दूषण, विद्या सन्तति गुरुतत्त्व निरूपण और सर्वाध्याय संगति निरूपण इत्यादि विषय हैं। प्रस्तुत पुस्तकका मूल्य केवल २॥)

कहावत रत्नाकर।

न्यायावली और सुभाषितावली सहित। परमधार्मिक तथा विद्वान् स्वर्गीय श्रीमान् भारतधर्म सुधाकर हिज़हाइनेस महारावल साहब सर विजयसिंह बहादुर के० सी० आई० ई० डूंगरपुर नरेशके सम्पादकत्वमें इस पुस्तकका छपना प्रारंभ हुआ था जिसको श्रीमहामण्डलके शास्त्र प्रकाशक विभागकी पण्डित-मण्डलीने सुचारुरूपसे समाप्त किया है। हिन्दीभाषाका यह एक अद्वितीय ग्रंथ है, इसमें हिन्दीभाषाकी प्रधानता रखकर पांच भाषाओंमें कहावतें दी गई हैं, हिन्दी और उसीकी संस्कृत कहावत, अंग्रेजी कहावत, फार्सी कहावत और उर्दू कहावत, अरबी कहावत। ये कहावतें प्रत्येक भाषाके प्रधान प्रधान विद्वानों द्वारा संग्रहीत और संशोधित हुई हैं, इसी प्रकार संस्कृत न्यायावली और उसका अंग्रेजी अनुवाद और विस्तृत अंग्रेजी विवरण तथा हिन्दी अनुवाद और हिन्दी विवरण दिया गया है। अन्तमें संस्कृत सुभाषितावली हिन्दी अनुवाद सहित दी गई है। हिन्दी कहावत, संस्कृत न्यायावली और संस्कृत सुभाषितावलीको सर्व साधारणके सुबीतेके लिये अकारादि क्रमसे दिया गया है। इसके प्रारम्भमें अंग्रेजी और हिन्दी भाषाका महत्त्व प्रतिपादन करनेवाली एक भूमिका दी गई है। पुस्तक सर्वाङ्ग सुन्दर और यू० पी० के सर्वश्रेष्ठ प्रेस नवलकिशोर प्रेस, लखनऊमें छपी है सुन्दर जिल्दबंधी हुई है। रायल एडीशन १०) साधारण एडीशन ७)

श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीका रामायण ।

श्रीगोस्वामीजीके हस्तलिखित पुस्तकके साथ मिलाकर सम्पूर्ण विशुद्धरूपसे छपाया गया है। हम दावेके साथ कह सकते हैं कि, इसके मुकाबिलेकी पुस्तक बाजारमें नहीं मिलेगी। इसमें कठिन कठिन शब्दोंका अर्थ इस तरहसे दिया गया है कि विना किसीके सहाराके औरतें, बालक, बुड्ढे आदि सभी कोई अच्छी तरह कठिन कठिन भावोंको समझ ले सकते हैं और भी इसकी विशेषता यह है कि,– इस तरहकी टिप्पणियां इसमें दी गई हैं कि, जिनको पढ़नेसे सनातनधर्मकी सब बातें समझमें आजावेंगी। धर्मसम्बन्धीय सब तरहकी शङ्काओंका समाधान भली भांति हो जायगा। इसकी छपाई, कागज वगैरह बहुत ही उत्तम और सुदृश्य है और केवल प्रचारके लिये ही मूल्य भी स्वल्पमात्र रक्खा गया है।

गीतार्थ चन्द्रिका ।

[दो खण्ड]

(श्रीस्वामी दयानन्द विरचित)

श्रीस्वामीजीकी विद्वत्ता किसीसे छिपी नहीं है। उन्होंने बहुत ही परिश्रमके साथ गीतापर यह अपूर्व टीका लिखी है। केवल हिन्दी भाषाके जाननेवाले भी इसके द्वारा गीताके गूढ़ रहस्यको जान सकें इसी लक्ष्यसे यह टीका लिखी गई है। इसमें श्लोकके प्रत्येक शब्दका हिन्दी अनुवाद,समस्त श्लोकका सरल अर्थ और अन्तमें एक अति मधुर चन्द्रिका द्वारा श्लोकका गूढ़ तात्पर्य बतलाया गया है। इसमें किसीका आश्रय न लेकर ज्ञान, कर्म और उपासना तीनोंका सामञ्जस्य किया गया है। भाषा अति सरल तथा मधुर है। इस ग्रन्थके पाठ करनेसे गीताके विषयमें कुछ भी जाननेको बाकी नहीं रह जाता। हिन्दी भाषामें ऐसी अपूर्व गीता अबतक निकली ही नहीं है। मूल्य प्रत्येक खण्डका १।)

सनातनधर्म—दीपिका ।

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित ।

इसमें १ धर्म, २ नित्यकर्म, ३ उपासना, ४ अवतार, ५ श्राद्धतर्पण ६ यज्ञोपवीत संस्कार, ७ वेद और पुराण, ८ वर्णधर्म, ९ नारी-

धर्म, १० शिक्षादर्श और ११ उपसंहार शीर्षक निबंध लिखकर श्री-स्वामीजीने बड़ी ही सरल भाषामें सनातनधर्मके मौलिक सिद्धान्त समझा दिये हैं। यह पुस्तक अंगरेजी स्कूलोंकी दशम श्रेणीके विद्यार्थियोंके धर्मशिक्षा देनेके उपयोगी बनाई गई है। मूल्य केवल ।।।) बारह आने।

आदर्श—जीवन—संग्रह।

महा पुरुषोंके जीवन चरित्रसे भावी सन्तानके चरित्र संघटनपर बहुत ही प्रभाव पड़ता है। अतः बालकोंको आदर्श महापुरुषोंका जीवन चरित्र अवश्य पढ़ाना चाहिये। वस्तुतः पुस्तकमें श्रीभगवान् शंकाराचार्य, ईसामसीह, गो० स्वा० तुलसीदास, महाराज युधिष्ठिर, महात्मा गांधी, लोकमान्य तिलक,महारानी अहिल्या बाई, आदि ३२ महानुभावों तथा महादेवियोंके जीवन चरित्रका संग्रह किया गया है। इस प्रकार यह अनेक आदर्शोंकी पुष्पमाला है। बालकोंके लिये अत्युपयोगी है। ऐसी पुस्तकका मूल्य १॥) मात्र है।

—* त्रिवेदीय सन्ध्या *—

शास्त्रविशारद-महोपदेशक

पं० राधिका प्रसाद वेदान्त शास्त्री प्रणीत।

इसमें तीनों वेदकी सन्ध्या दी गई हैं। हर एक मंत्रका हिन्दीमें अन्वय और विशुद्ध सरल हिन्दी भाषामें अनुवाद दिया गया है। सन्ध्या क्यों की जाती है? सन्ध्याका स्वरूप क्या है? उपासनाकी रीतिसे सन्ध्याके द्वारा अपने अपने जीवनको कैसे उन्नत कर सकते हैं, सन्ध्या किस समय की जाती है और कैसे की जाती है, सन्ध्या न करनेसे क्या क्या हानि होती है, सन्ध्याका वैज्ञानिक तात्पर्य क्या है, गायत्री जप करनेका विधान क्या है, इस प्रकारसे सन्ध्या सम्बन्धीय सब बातें युक्ति और शास्त्रीय प्रमाणोंसे सिद्ध की गई है। इसके साथ साथ गायत्री-शापोद्धार, गायत्रीकवच और गायत्री-हृदय भी सानुवाद दिया गया है। इसकी विशेषता यह है कि, इस पुस्तकके देखनेसे बिना किसीसे पूछे आप ही आप, सन्ध्याका कार्य ठीक तरहसे करसकेंगे और सन्ध्याके विषयमें जो कुछ शंकाएं हो सकती हैं सबका भलीभांति समाधान हो जायगा। मूल्य केवल ॥) आने।

मानस मञ्जरी ।)
बारह मासी -)
रामायण तुलसीकृत भाषाटीका स० बड़ा अक्षर सुन्दर जिल्द १४)
रामायण गोस्वामी तुलसीदास-कृत भाषाटीका सहित छोटे अक्षरोंमें ४)
रामायण भाषाटीका सहित बहुत बड़े अक्षरोंमें रफ कागजपर ८)
रायायण मूल बड़े अक्षरोंमें ६)
रामायण सूर्यदीनकृत भाषा टीका सहित =)
रामायण रफ कागजपर २॥)
रामायण गुटका १।)
बड़ा भरथरी चरित्र ।=)
मूल रामायण भाषा टीका सहित =)॥
आनन्दसागर ।-)
वैताल पचीसी ।-)
सिंहासन बत्तीसी ।≡)
किस्सा हातिमताई ।॥)
श्रीचित्र गुप्त यमद्वितिया कथा भाषा टीका सहित =)
ज्योतिषसार भा० टी० सहित १॥=)
विवाह पद्धति ≡)
तर्क संग्रह संस्कृत टीका सहित ॥)

शुक्ल यजुर्वेदीय रुद्राष्टाध्यायी ।-)
फलित संग्रह ।॥)
प्रेत मञ्जरी मूल ।=)
लघुसंग्रह ≡)
वासिष्ठी हवन पद्धति ।)
साम्वत्सरिक एकोद्दिष्ट श्राद्धप्रयोग =)॥
पञ्चांग पद्धति ।-)
गोपाल सहस्र नाम =)॥
दुर्गाशप्तशती खुला पत्रा ।=)
अनन्त व्रत कथा मूल -)
अनन्त व्रत कथा भा० टी० सहित ≡)
सत्यनारायण व्रत कथा मूल =)॥
सत्यनारायण व्रत कथा भा० टीका सहित ≡)॥
गरुड़ पुराण भा० टी० सहित ॥)
सत्यहरिश्चन्द्र नाटक ≡)
गायत्री पुरश्चरण =)॥
दशकर्म पद्धति ।≡)
दत्तात्रेयतन्त्रम् भा० टी० सहित ॥=)
उड्डीशतंत्र भा० टी० सहित ॥)
नारायण बलि भा० टी० सहित ॥=)
हितोपदेश ॥≡)
शीघ्रबोध भा० टी० सहित ।≡)
कौतुकरत्नभण्डार १=)

मिलनेका पता :—

निगमागम बुकडीपो
भारतधर्म सिण्डिकेट लिमिटेड,
स्टेशनरोड, बनारस सिटी ।

भारतधर्म प्रेस ।

मनुष्योंकी सर्वाङ्गीण उन्नति लिखने पढ़नेसे होती है। पहिले समय शिक्षा-प्रचारका कोई सुलभ साधन नहीं था; परन्तु वर्तमान समयमें शिक्षा-बृद्धिके जितने साधन उपलब्ध हैं, उनमें 'प्रेस' सबसे बढ़कर है।

सनातन धर्मके सिद्धान्तोंका प्रचार करनेके लिये भी इस साधनका अवलम्बन करना उचित जानकर हमने अपने प्रेस विभागको बहुत बढ़ा लिया है।

इसमें हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला और उर्दू के सब प्रकारका काम उत्तमतासे होता है। पुस्तक, पत्रिकाएं, हैंडबिल, लेटर पेपर, वालपोस्टर्स, चेक, बिल, हुण्डी, रसीद, रजिस्टर फार्म आदि छपवाकर इस प्रेसकी छपाईकी सुन्दरताका अनुभव कीजिये।

पत्र व्यवहार करनेका पताः—

मैनेजर, भारतधर्म्म प्रेस,

भारतधर्म सिण्डिकेट लिमिटेड्

स्टेशनरोड, बनारस।